श्री लक्ष्मी नारायण

श्री भागवत-दर्शन :—

"भागवती कथा"

(चौअनवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला "भागवती कथा" ॥

लेखक

श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी

प्रकाशक
सङ्कीर्तन-भवन
प्रतिष्ठानपुर, (झूसी) प्रयाग

संशोधित मूल्य २-०० रुपया
प्रथम संस्करण] वैशाख, सम्वत् २०१० वि० [मूल्य १)

॥ मुद्रक—भागवत प्रेस, प्रतिष्ठानपुर, प्रयाग ॥

विषय-सूची

चौअनवाँ खण्ड

शिशुसे शिक्षा

(१२४०)

न मे मानापमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् ।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत् ॥*
(श्रीभा० ११स्क० ६अ० ३श्लो०)

छप्पय

बालक कूँ अपमान मानको भान न होवे ।
सोवे लागै नींद भूख लगिवे पै रोवे ॥
घर फूटे या गिरे रहे धन चाहे जावे ।
जो मुखमहँ धरि देउ ताहि भावै तौ खावै ॥
भेद भाव चिन्ता नहीँ, रहै करत क्रीडा सतत ।
यों ज्ञानी यति हू रहै, आत्मभाव महँ नित निरत ॥

आनन्द खेलमे है, जहाँ उसमे सत्यताका आरोप कर लिया वही विपत्तियोंका पहाड टूट पडता है। बालकोंको खेल खेलमें गाडीमें चढनेमे कितना सुख होता है ! किसी गाडीको जाते देखेंगे उसके पीछे चुपकेसे चढ जायँगे। बडी दूर तक उसपर चड्डी लेते हुए चले जायँगे। दूर जाकर गाडी खडी होगी, तो उतरकर

*अवधूत दत्तात्रेय राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन्! मैं अपने आत्मामें क्रीडा करता हुआ निःशङ्क होकर बालकवत विचरता हूँ। मुझे न मानकी चिन्ता है न अपमानकी ; न मुझे घरकी चिंता है न पुत्र परिवारकी। यह शिक्षा मैंने बालकसे ली।"

पैदल भाग आवेंगे। अब सोचिये इतनी दूर पैदल आना हुआ इससे क्या लाभ ? देखिये, खेलमें लाभ-हानिका विचार नहीं किया जाता। जहाँ हानि-लाभका विचार होता है वह खेल नहीं, ममता है। खेलमें तो सब लाभ ही लाभ है, उस जयमें भी पराजय है, पराजय भी जय है। छोटे छोटे बच्चे यह दुलहाका खेल खेलते है, उसमें आनन्द ही आनन्द हैं, कोई चिंता नहीं आपत्ति नहीं विपत्ति नहीं। किन्तु जब बड़े होकर यथार्थ विवाह करके बहूको घरमें ले आते है, तो बहू नहीं लाये चिन्ताओंकी पुटलीको उठा लाये। चुरी लाओ, बिछिया लाओ, बेंदी लाओ, काजर लाओ। आज ज्वर है, आज सिरमें पीडा है, आज चोक है, आज जापा है, आज नामकरण है, आज कान छिदेंगे, आज विवाह है। कहाँ तक कहें नित्य नई नई चिन्ताएँ न जाने कहाँसे आजाती हैं। हँसीमें विनोदमें क्रीडामें किसीसे कह दो–ये लाख रुपये तुम्हारे हैं, कोई बात नहीं खेल तो खेल ही है। यदि कोई यथार्थमें लाख रुपयेको अपने समझ ले तो उसे रात्रिमें निद्रा न आवेगी, सदा उनके रक्षण की उनकी वृद्धिकी चिन्ता बनी रहेगी। इसी प्रकार जो संसारकी प्रत्येक घटनाको खेल समझता है, वह सदा हँसता रहता है। आना भी खेल है जाना भी खेल है। खेलते खेलते लड़के रो पड़ते हैं, वह भी एक खेलका अङ्ग है। एक सन्तको किसीको विदा करते समय रोते देखा। जब वे लोग चले गये, तो वे खिलखिलाकर हँस पड़े। किसीने पूछा—"महाराज! आप अभी तो रो रहे थे, अब एक साथ ही क्यों हँस पड़े ?" वे बोले—'अरे, भैया! यह सब खेल है, उस समय रोना भी खेल था, यह हँसना भी खेल है। खेलमें यह विचार नहीं होता–यह खेल मत खेलो, यह खेलो। जो मनमें आ गयी खेलने लगे। जहाँ उसमें सत्यता का आरोप होने लगा वहाँ फँस गये। इसीलिये ज्ञानियोंको बालकोंकी, सिड़ी पागलोंकी उपमा दी जाती है। बालक खेलते

खेलते रोने लगते हैं और फिर पल भरमें हँस जाते है। अभी वे क्रोधितसे दिखायी देते हैं; तुरन्त उन्हे फूल दिखा दो, फल माला या और कोई भड़कीली वस्तु दिखा दो, दौड़कर आजायँगे, हँस जायँगे। यही बात पागलोंकी है, अभी कुछ कह रहे है, फिर तुरन्त कुछ कहने लगेंगे। अभी रो रहे हैं, फिर हँस जायँगे। वस्त्रोंको फाडने लगेंगे, ईंटा ढेला फेंकने लगेंगे। साराश यह है उनके काम किसी विशेष सिद्धिके निमित्त नहीं होते। अपने आपेमे क्रीड़ा करते रहते हैं, मनकी तरङ्गोंके साथ खेलते रहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानी यति सदा आत्मानन्दमें निमग्न रहता है, आत्माके साथ क्रीड़ा करता है, आत्माके साथ रति करता है। आत्मभावमें भावित होकर सांसारिक सुख दुखोंसे सदा निर्लिप्त बना रहता है।

सूतजी शौनकादि मुनियोसे कह रहे है— ऋषियो! बालकसे ली हुई शिक्षाका वर्णन करते हुए अवधूत दत्तात्रेय राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन् छोटेसे अबोध बालकको भी मैंने अपना गुरु बना लिया है। कुछ दिनों तक मैं जंगल छोड़कर अनुभव के लिये नगरों और ग्रामोंमें घूमता रहा। वहाँ मैंने बहुतसे छोटे छोटे भोले भाले बच्चे देखे। राजन्! बच्चोंको देखकर बड़ा सुख होता है, वे फूलकी भाँति सदा खिले रहते हैं, ऐसी ऐसी मनोहर चेष्टायें करते हैं कि चित्त चाहता है सदा इन्हींके साथ खेलते रहे। मिश्रीसे भी मीठी ऐसी तुतली बोलते है कि मनमें आता है इन्हींकी बोली सुनते रहें। उनके अन्तःकरणमें राग द्वेष, पाप पुण्यका भाव नहीं, अतः उनकी आकृति बड़ी मोहक लगती है। हृदय चाहता है उन्हें छातीसे चिपटाकर बारबार उनका मुख चूमते रहें। बच्चे सभीके बड़े प्यारे लगते हैं। बच्चे जब आपसमें खेलते हैं, खिलते अच्छे लगते हैं। उनके मनमें कोई छिपानेका भाव नहीं। मुखमें आता है तुरन्त कह

देते हैं। अच्छीसे अच्छी वस्तु दे दो इच्छा होगी तब तक खेलेंगे जब इच्छा होगी तुरन्त उसे फेंक देंगे। सब बच्चोंको देखकर प्रसन्न हो, उन बच्चोंमें जो ममत्व स्थापित करते हैं ये मेरे बच्चे हैं, ये तो सुखी रहें ; दूसरोंके बच्चे सुखी न रहें, दुःखका प्रधान कारण यही है। मेरे लिये तो सभी बच्चे एकसे हैं। जो किसी बच्चेको अपना करके नहीं मानते उनके लिये सभी बच्चे समान हैं। इसलिये मैं जिस बच्चेको भी देखता उसीको प्यार करता। किसी गाँवमें दो चार दिन रह जाता तो गाँव भरके लड़के मुझसे हिल जाते, मेरे चारों ओर खड़े हो जाते। उनमेंसे किसीमें मैं चपत लगा देता, किसीकी टोपी उतार लेता, किसीको गोदीमें उठा लेता, इससे वे सब अत्यंत प्रसन्न होते, उनमें मान अपमानकी गंध भी नहीं थी। संसारी लोग मान अपमानके ही पीछे मर रहे हैं। उन्होंने मुझे 'आप' न कहकर "तुम" कह दिया, यह मेरा बड़ा भारी अपमान हुआ। अरे भैया! क्या तेरा अपमान हुआ। 'आप' में भी दो शब्द हैं 'तुममें" भी दो शब्द हैं। 'आ अक्षरसे 'त् अक्षर तो बड़ा है, 'प' से 'म' तो आगे है। इसमें क्या अपमान ! माता पिता बड़े भाई सगे सम्बन्धी 'तू' 'तुम' ही तो कहते हैं, इसमें क्या मान क्या अपमान ? किंतु यह ऐसा मिथ्याभिमान हो गया है कि शब्दोंमें भी मनुष्य मानापमानका विचार करते हैं। हमारे नामके पीछे इतनी "श्री" क्यों नहीं लिखी गयी। यह अज्ञान है, मूर्खता है। बच्चोंमें यह बात नहीं, उनको आधे नामसे पुकारो, गाली देकर पुकारो, कुछ कहकर पुकारो वे हँस जायँगे। मनुष्य मिथ्या मान अपमानका विचार करके भीतर ही भीतर जलता रहता है। उसे मान अपमानकी बड़ी चिन्ता रहती है।

मनुष्यको दूसरी चिन्ता होती है, घर और परिवारकी। हाय !

मेरा घर फूट गया, इसमें ऐसी असुविधायें हैं, स्त्री सदा रोगिणी बनी रहती है, बच्चोंको ज्वर आजाता है, परिवारमें मनुष्य बहुत हैं, आय बहुत कम है, कैसे निर्वाह होगा ? कैसे सब सुखी होंगे। इसी चिन्तामें निमग्न हुए मनुष्य सदा दुखी रहते हैं। बालकको ये सब चिन्तायें नहीं होतीं, वह अपने आपमें सदा प्रसन्न रहकर प्रमुदित रहता है, उसे किसीपर स्वतः शङ्का नहीं होती। वह सदा खेला करता है। भूख लगी खा लिया, फिर खेलमें लग गये। बालककी ऐसी प्रवृत्तिका मेरे ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा, मैंने उसे अपना गुरु बना लिया और तभीसे मान अपमानकी चिन्ता त्यागकर देह गेहका कुछ भी विचार न करके अपने आपमें ही क्रीडा करता रहता हूँ। आत्मानन्दमें ही निमग्न होकर भोले बालकके समान शंका रहित होकर पृथिवीपर विचरण करता रहता हूँ।

राजाने कहा—"भगवन् ! संसारमें देखते हैं दुःख ही दुःख है, ऐसा कोई भी नहीं जिसे कोई न कोई चिन्ता न लगी हो।"

अवधूत मुनिने कहा—"राजन् ! जो थोड़ा भी संग्रह करेगा, वह चिन्तित अवश्य होगा। इसलिये संसारमें दो ही प्रकारके मनुष्य चिन्तासे विमुक्त हैं। एक तो वह जो भोला भाला सरल शिशु है और दूसरा वह जो इस प्रकृतिके तीनों गुणोंको पारकर गया है, जिसकी दृष्टिमें अच्छे बुरेका भेद भाव नहीं है। इनके अतिरिक्त जो बीचके हैं—मध्यम श्रेणीके हैं—वे तो सदा चिन्तामें ही ग्रस्त रहते हैं। जो ज्ञानी नहीं है। राज या किसी भी गुणके अधीन है, पातालसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त कहीं भी क्यों न हो, चिन्तासे मुक्त कोई नहीं है। चिन्तासे मुक्त तो वही है, जो बालककी भाँति सभी घटनाओंको खेल समझता है। राजन् ! बालकके भोलेभाले निश्छल स्वभावको ही देखकर मैंने उसे अपना गुरु बना लिया है और उसीकी शिक्षाको हृदयङ्गम करके

मैं इसमें व्यवहार करता हूँ।"

राजाने कहा—"ब्रह्मन् ! आपने पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधुमक्षिका, हाथी, मधुहारी, हरिण, मीन, वेश्या, कुरर पक्षी और बालक इन उन्नीस गुरुओंसे ली हुई शिक्षाका वर्णन किया, अब मैं यह सुनना चाहता हूँ कि बीसवें गुरु कुमारी कन्यासे आपने कौनसी शिक्षा ग्रहण की। कुमारी लड़कीको आपने गुरु क्यों बनाया ?"

इसपर हँसते हुए अवधूत मुनि बोले—"राजन् ! इस सम्बन्धमें एक इतिहास है, उसे मैं आपको सुनाऊँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! अब अवधूत मुनिके द्वारा कही हुई कुमारी कन्याकी शिक्षा ग्रहण कीजिये।"

छप्पय

द्वै ई जग महँ सुखी और सब दुखी भूमिपति।
एक गुणनि तैं पार ज्ञान विज्ञान निपुण यति॥
दूसर छल तैं रहित सरल शिशु भोरो भारो।
अधकचरे नित रहें दुखी चिन्तित हिय धारो॥
बालक गुरु करि जगत महँ, विचरूँ है निःशङ्क नित।
निज पर भेद भुलाइकें, समझूँ सबकूँ आत्मवत॥

—※—

कुमारी कन्यासे शिक्षा

(१२४१)

वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० ६अ० १०श्लो०)

छप्पय

निरखी कन्या एक अकेली बैठी आँगन ।
खोजन माता पिता गये वर पहुँचे पाहुन ॥
चावल घर नहि रहे धान वह लागी कूटन ।
पहिने कर महँ चुरी शङ्खकी लागीं बाजन ॥
पृथक् करीं करतैं कछू, रहा बजीं द्वै शेष जो ।
एक उतारी नहि बजीं, हौं गुरु कीन्हीं तुरत सो ॥

निर्जीव वर्तन जब एक साथ रहते हैं तो खटक जाते हैं, फिर सजीव पुरुष जिनमें कुछ कुछ भिन्नता होनी स्वाभाविक है, वे जब साथ होंगे तो कुछ न कुछ कहासुनी हो हा जायगी। कितने संयमी सदाचारी, त्यागी विरागी पुरुष साथ रहें उनमें कभी

*अवधूत मुनि राजा यदु स कह रहे हैं— राजन्! बहुत लोगों के साथ रहने से कलह होता है, यदि दो भी रहें तो भी बातें होती ही हैं। इसलिये भिक्षु को चाहिये कि वह एकाकी ही नि शब्द होकर विचरे जैसे कुमारी कन्या का कङ्कण अकेला रहनेसे निःशब्द हो गया था।"

न कभी कलह अवश्य हो जायगी। यह स्वाभाविक बात है, कलह कलियुग का रूप है। चारों युगों में कुछ न कुछ कलि का अंश होता है अर्थात् कलह चारों युगों में होती है। सत्ययुग में कम होती है, त्रेता में उससे अधिक, द्वापर में उससे भी अधिक और कलियुग तो कलह का घर ही है।

एक बार की बात है, सातों सप्तर्षि मुनि साथ साथ जा रहे थे। उनके साथ उनका सेवक भी था। मार्ग में बड़ी भूख लगी। वे सबके सब ज्ञानी थे, एक दूसरे को हृदय से प्रेम करते थे, किन्तु भूख में मनुष्यों की मति विपरीत हो जाती है। वास्तव में कलह भूखके ही लिये होती है, किसी को धन की भूख है, किसी को अन्न की भूख है, किसीको काम की भूख है। जिसने भूख को जीत लिया उसके समीप कलह फटक भी नहीं सकती। हाँ, तो चलते चलते उन ऋषियों को एक सरोवर मिला। उसमें कमल खिल रहे थे। सबने कहा—"सब लोग मिलकर कमल की जड़ों को निकालो, उन्हींसे सब मिलकर बुभुक्षा को शान्त करेंगे।"

सब लोग सरोवर में घुसे और कमल की जड़ों को निकालने लगे। कलियुग ने सोचा—"ये लोग इतने साथ साथ रहते हैं, भूख लगने पर तो एक को दूसरे के ऊपर अविश्वास होना ही चाहिये इनमें कलह होनी ही चाहिये, किन्तु ये मिलकर काम कर रहे हैं। इनमें कुछ भेद डालना चाहिये।" यही सोचकर कलियुग उन कमल कन्दों को चुरा ले गया। अब एक दूसरे पर वे आपस में सन्देह करने लगे। कोई कहता 'तुमने खा लीं हैं' कोई कहता तुमने खा लीं हैं।' जब आपस में सभी एक दूसरेपर सन्देह करने लगे और अपने को निर्दोष बताने लगे, तो सबने शपथें खाईं।

कहानी बहुत बड़ी है, यहाँ इसके उल्लेख करने का सारांश इतना ही है कि कैसे भी ज्ञानी, ध्यानी, विवेकी तथा बहुश्रुत आदमी एक साथ रहेंगे, उनमें आपस में कभी न कभी कुछ न

कुछ कलह अवश्य होगी। अतः परमार्थ चिंतन करनेवाले भिक्षु को कभी समूह बनाकर न घूमना चाहिये। बहुतो मे तो कलह हो ही जाती है, दो बर्तन भी साथ रहते हैं, तो कभी खटक जाते हैं। एक मनके दो आदमी साथ रहते हैं, तो कलह चाहे न हो, किन्तु इधर उधर की बातें तो हो ही जाती है। और कुछ न होगी, भिक्षा की ही बातें छिड़ जायँगी-आज हम वहाँ गये, उसने बड़ी श्रद्धा से भिक्षा दी। वह माई तो डाइनकी तरह चिल्लाकर बोली—"हट्टा कट्टा से घूमते हो, नित्य नारायण हरिनारायण हरि आकर चिल्लाते हो, कुछ कमाकर खा जाते हो क्या? चले जाओ।" अमुक स्थान पर गये मालपुआ बन रहे थे, उसने बिठाकर भिक्षा करा दी। ऐसी बाते इच्छा न करने पर भी हो जाती हैं, अतः परमार्थ के पथिक सन्यासी को कभी दो के साथ मिलकर न रहना चाहिये। भाव, भोजन और भजन एकान्त में ही भली भाँति होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! कुमारी कन्या से शिक्षा लेने के सम्बन्ध मे जो राजा यदुसे अवधूत ने इतिहास बताया था, उसे आपसे कहता हूँ। अवधूत मुनि कह रहे हैं—"राजन्! एक दिन मैं घूमता फिरता एक गाँवमे गया। उस गाँवमे पहिले भी मै गया था, वहाँ एक बड़ा श्रद्धालु ब्राह्मण था, जब भी मैं जाता बड़ी भाव भक्तिसे भिक्षा कराता। महाराज! साधुका और कूरका ऐसा स्वभाव है कि जहाँ प्रेमसे टुकड़ा मिल जाता है, वहाँ स्वतः ही पहुँच जाता है। जब मैं पहिले ब्राह्मणके घरमे जाता था, तो वे कहा करते थे—"भगवन्! मेरी यह पुत्री बड़ी सुशीला और बुद्धिमती है, इसके योग्य कोई घर नहीं मिल रहा है, इसकी चिन्ता मुझे लगी रहती है।" मैं कह देता—"भगवान सब मंगल करेंगे, जिसके साथ इसका सम्बन्ध लिखा होगा, उसके साथ अवश्य ही होगा।" वह लडकी भी मुझे जानती थी। मैं घरमे गया, तो वह आँगनेमें बैठी थी। मैंने पूछा—"बिटिया! पंडितजी

कहाँ गये हैं।"

उसने कहा—"वे तो कहीं बाहर कामसे गये हैं ?"

मैंने कहा—"तेरी माँ कहाँ गयी है ?"

उसने कहा—"महाराज ! वह भी कहीं बाहर गयी है। आप विराजें।"

लडकीकी बात सुनकर मैं वहीं बैठ गया। इतनेमें ही उस लडकीको देखने उसकी सगाई करने कुछ लोग आ गये। लडकी तो सब जानती ही थी, कि मेरे पिता मेरे विवाहके लिये दौड रहे हैं और ये लोग मेरी सगाई पक्की करने आये हैं। घरमें कोई दूसरा था नहीं, अतः आगत अतिथियोंके आतिथ्यका भार उसीके ऊपर पड गया। सयोगकी बात कि उस दिन घरमे चावलका एक दाना भी नहीं था। माता पिता होते तो कहींसे प्रबन्ध करते। कोई दूसरे आदमी होते, तो वह भी पास पडोसीके यहाँसे ले आती, किन्तु जब उसकी ही सगाई करने आये है, तो लडकी उनके सम्मुख बाहर कैसे जा सकती थी। उसे बडी चिन्ता हुई।

विचार करते करते उसे ध्यान आया। कुठिलामें बहुतसे धान भरे है, क्यों न शीघ्रतासे कुछ धान कूटकर उनमेसे चावल निकाल लू ! इस विचारके आते ही उसने ओखलीमें धान डालकर धनकुटासे उन्हें कूटना आरम्भ कर दिया। उसके हाँथमें शङ्खकी बनी चूडिया पडी थीं। वे धान कूटनेसे शब्द करने लगीं। लडकी तो बडा बुद्धिमती थी, उसने सोचा— यद्यपि में यहाँ एकान्तमे धान कूट रही हूँ, मुझे वे लोग देख नहीं रहे हैं, किन्तु मेरी चूडियोंकी ध्वनि सुनकर वे लोग समझ जायँगे, कि मैं धान कूट रही हूँ। वे सोचेंगे—ये लोग बडे निर्धन हैं, इनके यहाँ एक दिन खानेको चावल भी नहीं। दरिद्र समझकर ये लोग लौट जायँगे, सम्बन्ध भी पक्का न करेंगे, इसलिये ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे चूडियोंका शब्द न हो।"

यह सोचकर उसने तुरन्त चूडियाको उतार दिया। उतारनेमे शीघ्रताके कारण कुछ टूट भी गयीं। केवल दो दो चूडियाँ उसने रहने दीं। दो दो के रहनेपर अब उनमेसे उतना शब्द तो नहीं निकलता था, फिर भी कुछ खटखट होती ही थी। धनकुटा उठाने और धान कूटते समय वे दोनो मिलकर खनखन करती ही थी। तब उस बुद्धिमती लडकीने एक एक चूडी और भी उतार दी। अब जब अकेली अकेली रह गयी, तो शब्द कैसे होता, उसने धान कूटकर शीघ्रतासे भात बना लिया। मैं तो ज्ञानकी खोजमे घूमता ही रहता हूँ, प्रत्येक घटनासे कुछ न कुछ शिक्षा ग्रहण करता ही हूँ। इसलिय मैंने उस लडकीको अपना गुरु मान लिया और उससे यह शिक्षा ग्रहण की, कि बहुत लोगाके साथ रहनेसे कलह हुआ ही करता है, जैसे वहुतसी चूडियोसे शब्द होता ही था। बहुत न रहे केवल दो ही रहें तो भी कलह न होगी, गप्प शप्प तो हो ही जायँगी। कहीं कड़ाई जा रही होगी, तो एक साधु दूसरे साधुसे कहेगा—"गोपालदास ! रामजीके आसरेसे आज यह कडाई कहाँ जा रही है ?"

दूसरा कहेगा—' अजी ! सियाशरणदासजी ! अमुक स्थानपर भडारा है।"

इस प्रकारकी इच्छा न होनेपर भी अनावश्यक बातें हो जाती है। इसलिये विरक्तको दो का भी साथ न करना चाहिये। कुमारीके कङ्कण के समान एकाकी ही निःशब्द होकर रहना चाहिये। एकान्तमें चित्तकी वृत्ति बाहरकी ओर नहीं जाती, भीतरका अन्वेषण करती है। इन्द्रियोकी वृत्तिका बाहर होना ही अवनति है। चित्तकी वृत्तिका निरोध करना ही उन्नति है। अत एकान्तमे अकेले रहकर यति आत्मचिन्तनमे निरत रहे।

राजा यदुने पूछा— ब्रह्मन् ! आपने कुमारी कन्यासे ली हुई शिक्षाका तो वर्णन किया, अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने

बाण बनाने वालेको गुरु क्यों बनाया ? उससे आपने क्या शिक्षा ली ?

यह सुनकर अवधूत मुनि बोले—"अच्छी बात है महाराज! अब मैं बाण बनानेवालेसे ग्रहणकी हुई शिक्षाका ही वर्णन करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! आप भी बाण बनाने वालेकी शिक्षाको श्रवण करें।"

छप्पय

शिक्षा ग्यातैं लई कलह होवै बहुतनि महँ।
यदि संग द्वैऊ रहैं समय बीतै बातन महँ॥
भीड़भाड़ में भिक्षु भूलिकैं कबहुँ न जावै।
रखै न दूजो संग अकेलो समय बितावै॥
एकाकी चिन्तन करै, खटपट तैं नित ही बचै।
नर नारिनिको संगता, जनम मरन पुनि पुनि रचै॥

बाण बनाने वालेसे शिक्षा

(१२४२)

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥*

(श्रीभा० ११स्क० ९अ० १३श्लो०)

छप्पय

गुरु कीयो इषुकार बान पथ माहिँ बनावे।
ह्वैकें तन्मय चित्तवृत्ति सर माहिँ लगावे॥
राजा सेना सहित गयो चित नाहिँ चलायौ।
'इततें भूपति गयो' कह्यो कछु नहिँ सकुचायौ॥
विषयनि तैं वैराग्य करि, नित नितके अभ्यास तैं।
चित्त मिलावै लक्ष्य तैं, आसन प्राणायाम तैं॥

देखना, सूँघना, रसलेना, सुनना तथा शीतोष्णका अनुभव करना ये सब कार्य मनके ही हैं, ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा मन इन

---

* अवधूत मुनि राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन्! जब चित्त आत्मामें अवरुद्ध हो जाता है, तो भीतर बाहर किसी भी पदार्थको नहीं जानता। जिस प्रकार समीपसे ही जाती हुई राजाकी सवारीको एक बाण बनाने वालेने बाण बनानेमें तन्मय होनेके कारण देखा ही नहीं।"

कार्योंको कराता है। केवल आँखें देखनेमें समर्थ नहीं जब तक वहाँ मन न हो, केवल कर्ण सुन नहीं सकते जब तक मनका उनके साथ संयोग न हो, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। यदि मन वशमें हो गया, तो इन्द्रियाँ अपने आप वशमें हो जायँगी। यदि मन वशमें नहीं है और ऊपरी इन्द्रियोंको रोकते रहो, तो जब भी अवसर आवेगा, विषयोंमें प्रवृत्त हो जायँगी। मनके रोकनेके दो ही उपाय हैं, या तो ऊर्ध्व-रेता हो या प्राणोंको रोकनेकी शक्ति हो। प्राणोंके रुकनेसे मन अपने आप रुक जायगा, फिर वह लम्बी दौड़ न लगावेगा। जैसे किसी पक्षीके पैरमें डोरी बाँधकर उसे वृक्षकी शाखासे बाँध दो, अब उसके पंख व्यर्थ बन गये। कुछ काल तक पैर फटफटावेगा फिर वहीं बैठ जायगा। जब तक रस्सीमें उसका पैर बँधा है और वह रस्सी शाखामें बँधी है, तब तक वह कहीं नहीं जा सकता। प्राणायाम एक प्रकारकी रस्सी है। मनरूपी पक्षीको उससे बाँध दो वह अधिक उड़ न सकेगा, वहीं बँधा हुआ बैठा रहेगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! बाण बनानेवालेकी शिक्षा का वर्णन करते हुए अवधूत मुनि कह रहे हैं—"राजन्! एक दिन मैं राजपथसे जा रहा था। वहाँ मुझे एक बाण बनानेवाला दिखायी दिया। उसकी दुकान राजपथके किनारे ही थी, वहीं वह बाणोंको सीधा करता था। बाण जब तक सर्वथा सीधे नहीं होते तब तक वे लक्ष्यभेद करनेमें समर्थ नहीं होते। उनको बड़ी तन्मयतासे सीधा किया जाता है। तनिक भी बल उनमें नहीं पड़ने पाता।

मैंने देखा वह बाण बनानेवाला एकाग्र चित्तसे उन्हींको सीधा कर रहा है। मैं बड़ी देर तक खड़ा खड़ा उसे देख रहा था। मैं तो उसे देख रहा था, किन्तु वह मुझे नहीं देख रहा था। उसने आँखें बन्द करली हों सो भी बात नहीं, आँखें तो उसकी

खुली थीं, किन्तु वह ऐसा तन्मय था कि उसे अपने बाणके अतिरिक्त कुछ भी दिखायी नहीं देता था।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! आँखे खुली रहनेपर तो जो वस्तु सम्मुख होगी, वही दिखायी देगी, इतने बड़े मुनि उसके सम्मुख खड़े रहे और उसे वे दिखायी क्यों नहीं दिये, बाणकी अपेक्षा तो मुनि बड़े ही थे।"

सूतजी बोले—"बड़ा होनेसे क्या होता है। हम पूरी आँखोंसे तो देखते नहीं। आँखोंके तारोंमेंसे देखते हैं। तारोंमें भी जो बीचमें एक गोल छोटासा बिन्दु है उससे देखते हैं। यदि एक राईमें भी उसे दृढ़ताके साथ लगा दो तो फिर राईके अतिरिक्त कुछ भी दिखायी न देगा। इस विषयमें कौरव पाडवोंका दृष्टान्त बड़ा ही सुन्दर है।

कौरव और पाडव साथ ही साथ द्रोणाचार्यजीसे बाण-विद्या सीखते थे। जब वे लोग सीख चुके, तो आचार्यने एक दिन सबकी परीक्षा ली। एक कृत्रिम पक्षी बनाकर पेड़पर बैठा दिया और सबसे कहा—"इस चिड़ियाके सिरको काटना है। एक एक बाण लेकर आओ। मैं जो पूछूँ उसका उत्तर दो और जब मैं आज्ञा दूँ तब बाण छोड़ो।"

आचार्यकी आज्ञा सभीने शिरोधार्यकी। सभी धनुषपर बाण चढ़ाकर लक्ष्य भेदनेके लिये सुसज्जित होते। आचार्य उनसे पूछते—"तुम क्या देख रहे हो ?"

कोई कहता—"मैं आपको, इस वृक्षको और वृक्षकी बड़ी शाखाओंको और इनपर बैठे पक्षीको देख रहा हूँ।"

आचार्य उससे कहते—"बाणको तूणीरमें रख लो, पीछे हट जाओ। अब दूसरा आगे आवे।" इसी प्रकार सभी आये, किसीने वृक्षको बताया, किसीने शाखाको बताया और किसीने केवल पक्षीको बताया। सबसे अन्तमें अर्जुनकी बारी आई। जब वे

धनुषपर बाण चढ़ाकर खडे हुए तो आचार्यने पूछा—"तुम मुझे देख रहे हो ?" अर्जुनने कहा—"नहीं ।"फिर पूछा—"इस वृक्षको देख रहे हो ?" पार्थने निषेध किया। आचार्यने पूछा—"इस वृक्षकी उस शाखाको देख रहे हो, जिसपर पक्षी बैठा है ?" सव्य-साची अर्जुन बोले—"नहीं, मैं शाखाको भी नहीं देख रहा हूँ ।" आचार्यने पूछा—"पक्षीको देख रहे हो ?"

अर्जुनने कहा—"नहीं, मैं पक्षीको भी नहीं देख रहा हूँ।"

आचार्यने विस्मयके साथ पूछा—"कुछ देख भी रहे हो या अन्धे हो गये हो, नेत्र तो तुम्हारे खुले हुए हैं।"

अर्जुनने कहा—"गुरुवर ! मैं केवल पक्षीके सिरके उस भागको ही देख रहा हूँ जहाँ मुझे बाण मारकर उसके सिरको काटना है।"

यह सुनकर आचार्य प्रसन्नताके कारण उछल पडे और बोले—"अर्जुन ! लक्ष्य-भेदका रहस्य तैंने ही समझा है। जा, मैं तुझे आशीर्वाद देता हूँ, तेरा लक्ष्य कभी भी व्यर्थ न जायगा। जब तक मन लक्ष्यमें तन्मय नहीं होता, जब तक उसके अतिरिक्त सबकी ओरसे दृष्टि नहीं हटा लेता तब तक लक्ष्य-भेद होता नहीं। यह बात स्वार्थ परमार्थ दोनोंमें ही है। विषयियोंका मन जब तक विषयोंमें तदाकार नहीं होता तब तक उन्हें विषय जन्य सुख प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म एक लक्ष्य है। आत्मा बाण है, प्रणव धनुष है, जो अप्रमत्त होकर भेद करता है वही ब्रह्मवित् होता है।"

सारांश कहनेका यह हुआ कि कोई भी कार्य तभी भली-भाँति सम्पन्न होता है, जब उसमें तदाकार हो जाय, उसके अतिरिक्त किसीको देखे ही नहीं, उसमें मिल जाय।"

शौनकजीने पूछा—"हाँ, सूतजी ! अब यह विषय हमारी बुद्धि मे आ गया। आगे उस बाण बनानेवालेकी बात बताइये।"

सूतजी बोले—"मुनियो ! अवधूतमुनि राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन् ! मैं बड़ी देर तक वहाँ खड़ा रहा। इतनेमें ही राजाकी सवारी वहाँसे निकली। उसके साथ बहुतसे सैनिक थे। हाथी-घोड़ा, पैदल तथा रथ सभी कुछ थे। आगे आगे बाजे बजते जाते थे। गानेवाली गीत गाती जाती थीं, नाचनेवाली नाचती जाती थीं। मैं खड़ा खड़ा सब देखता रहा, किन्तु वह बाण बनाने-वाला अपने कार्यमें ही व्यस्त था। सवारी निकल गयी। कुछ कालके पश्चात् मैंने जाकर पूछा—"कहो चौधरीजी ! क्या कर रहे हो ? तुमने राजाकी सवारी देखी या नहीं ?"

उसने चौंककर कहा—"नहीं ब्रह्मन् ! मैंने राजाकी सवारी नहीं देखी।"

मैंने कहा—"तुम्हारे सामने होकर तो निकली है।"

उसने अनजानकी भाँति पूछा—"कब निकली है भगवन् ! मुझे तो पता नहीं। मेरे सम्मुख तो निकली नहीं।"

अवधूतमुनि कह रहे हैं—"राजन् ! उसकी तन्मयताका मेरे ऊपर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसी समय मैंने उसे अपना गुरु बना लिया। जिसे मोक्षकी इच्छा हो, उस यतिको चाहिये कि बाण बनानेवालेकी भाँति अपने चित्तको एकाग्र करे।"

राजाने पूछा—"ब्रह्मन् ! चित्तको किन उपायोंसे एकाग्र करे।"

मुनि बोले—"राजन् ! प्रथम तो ,विषयोंसे वैराग्य करे, इस दृश्य प्रपञ्चको मिथ्या समझे, फिर इसका निरन्तर अभ्यास करता रहे। अभ्यासके बिना वैराग्य टिकता नहीं। अतः अभ्यास वैराग्य दोनोंकी ही आवश्यकता है। आलस्यको अपने समीप फटकने भी न दे। दृढ़ आसन मारकर प्राणोंका संयम करे। प्राणायामके अभ्याससे प्राणोंपर विजय प्राप्त करे। मन त्रिगुणात्मक विषयकी वासनासे अशुद्ध हो गया, वास्तवमें यह अशुद्ध नहीं है। संसर्ग-जन्य दोष इसमें आगया है। वस्त्र तो शुद्ध स्वच्छ होता है,

ऊपरसे उसमें मैल भर जाता है। युक्तिपूर्वक क्षारसे धोनेपर उसका मैल निकल जाता है और फिर वह पूर्ववत् स्वच्छ हो जाता है। पहिले भी वह शुद्ध था, क्षार लगानेपर उसमें नयी शुद्धता कहींसे आ नहीं गयी, उसकी वही शुद्धता चमकने लगी। इसी प्रकार सत्व, रज और तम इन तीनोंके कारण मन मैला हो गया है। कर्म रूपी धूलिने उसे ढक लिया है। रज और तमकी वृद्धिसे राग, अज्ञान, मोह, आलस्य तथा प्रमाद आदि बढ़ गये हैं। अतः सर्वप्रथम सत्वगुणको बढावे। सत्वगुणकी वृद्धि होनेसे रजोगुण तमोगुण अपने आप दब जायँगे। जैसे अग्नि तभी तक जलेगी और धूँआ देगी जब तक उसमें ईंधन पडता रहेगा। ईंधन न डालो तो वह बिना धूँएके दहकती रहेगी। कुछ कालमें कोयला तथा कंडोंकी राखको छोडकर अपनी महाज्योतिमें मिल जायगी। इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण ये ईंधन हैं। सत्वकी वृद्धिसे निर्धूम अग्निके समान मन हो जायगा, फिर शनैः शनैः वह शान्त होकर आत्मामें निरुद्ध हो जायगा। आत्मा परमात्माको प्राप्त हो जायगा। चित्तके निरुद्ध हो जानेपर न बाहर कुछ दीखता है न भीतर। केवल अपना लक्ष्य ही दृष्टिगोचर होता है।"

राजाने कहा—'ब्रह्मन्! बाण बनानेवालेकी शिक्षाको तो मैंने श्रवण किया, अब आप यह बतावें कि सर्पको आपने गुरु क्यों बनाया? सर्प तो बड़ा विषैला होता है, उसमें आपने कौनसा गुण देखा?'

हँसते हुए अवधूत मुनि बोले—"विषैला होनेमें क्या हुआ!

मुझे तो गुण ग्रहण करना है। गुण कहीं भी मिल जाय, वहींसे ग्रहण किया जा सकता है। अच्छी बात है, अब मैं सर्पसे ली हुई शिक्षाका ही तुमसे वर्णन करूँगा।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब आप 'साँपसे सीखी शिक्षाको भी शान्तिके साथ सुन लीजिये।"

छप्पय

रज तम रूपी मैल त्यागि जगबन्धन तोड़ै।
प्रविशि परमपद चित्त धूलि अरमनिकी छोड़ै॥
आत्मा महँ चितरोध होहि हिय महँ सुख पावै।
भीतर बाहर फेरि न कछु जग वस्तु दिखावै॥
बाणकारके सरिस नित, करै चित्त एकाग्र यति।
देहि ध्यान नहिं जगत् महँ, तब पावै त्यागी सुगति॥

—::※::—

सर्प से शिक्षा

(१२४३)

गृहारम्भो हि दुःखाय निष्फलश्चाध्रुवात्मनः ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥ *

(श्रीभा० ११स्क० ६अ० १५श्लो०)

छप्पय

अहि सम विचरै, भिक्षु अकेलो सब तैं छिपिकैं ।
एक स्थान नहिं रहे गुहामें सोवै लुकि कैं ॥
कबहुँ न करै प्रमाद समय कूँ व्यर्थ न खोवै ।
जन समह नहिँ करै अल्पभाषी नित होवै ॥
परै न मठ के फेर में, ककर पत्थर जोरि कें ।
परयो रहै एकान्त में, सब तैं नातो तोरि कें ॥

गृह का अर्थ है, जो बाँधले फँसाले। गृहस्थी घर बनाकर ऐसा फँस जाता है कि फिर उसका निकलना कठिन होता है।

---

* अवधूत मुनि राजा यदु से कह रहे हैं—'राजन् ! एक दिन नष्ट हो ही जाने वाले इस अनित्य शरीरके लिये घर बनाना व्यर्थ है और दुःखका कारण है। देखिये, सर्प दूसरों के घर में घुस कर वृद्धि को प्राप्त होता है, उसे कोई कष्ट नहीं होता।"

एक एक ईंट मे उसका अनुराग हो जाता है। घर के छप्पर में जितनी गाँठें होती हैं, उतनी गाँठें उसके हृदय में लग जाती हैं। इस सजीव देह रूपी घर में जितना ममत्व होता है, उतना ही निर्जीव कंकड पत्थर के बने घर में हो जाता है। जिस वस्तु को नित्य अनुराग के साथ, अपनेपन के साथ देखेंगे उसमें मोह हो जायगा और अवश्य हो जायगा। हृदय पर संस्कार शनैः शनैः पडता है और वह अमिट हो जाता है। पेट में बच्चा आते ही माता-पिता के संस्कार पड़ने आरम्भ हो जाते हैं, बच्चा होगा बच्चा होगा। छै महिने का गर्भ गिर जाता है तो कितना दुःख होता है। अभी बच्चा नहीं, पूरा शरीर नहीं, फिर भी छै महिने से संस्कार पड़ रहे थे, इससे दुःख हुआ। पैदा होकर मरता है तो और भी दुःख होता है क्योकि उसका मुख देखनेसे मोह हो जाता है। यदि दो तीन वर्ष का होकर मरता है तो उससे भी अधिक दुःख होता है। यदि बडा होकर युवावस्था मे किसी का पुत्र मर जाय तो माता-पिता को कितना कष्ट होता है, उसे वे ही समझ सकते हैं। लडका तो वही है जो जन्म के समय था। इतने दिन साथ रहने से उसमें ममता अत्यधिक बढ़ गयी, जिसमें जितनी ही अधिक ममता होगी, उसके वियोग मे उतना ही अधिक कष्ट होगा। वस्तुएँ दुःख का कारण नहीं है, दुःखका कारण तो है ममता। निरन्तर संग करने से निरन्तर उसकी सुविधाओं को स्वीकार करने से ममता हो ही जाती है। इसलिये त्यागपथ के पथिक को न तो कभी अधिक दिनों तक एक स्थान में रहना चाहिये न किसी से ममता ही करनी चाहिये।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! सर्प से ली हुई शिक्षा का वर्णन करते हुए अवधूत दत्तात्रेय राजा यदु से कह रहे हैं—"राजन्! सर्प विषैला जन्तु है तो क्या हुआ। हमें तो आम खाने हैं, पेड़ गिनने से क्या प्रयोजन। उत्तम विद्या यदि नीच पर भी हो, तो

उसे ले लेना चाहिये। यह ससार तो गुण दोषों से बना ही है। प्राणियो मे दोषोंका होना स्वाभाविक है। हम दूसरो के दोषों का चिन्तन करेंगे, तो उन दोषों के संस्कार हमारे भीतर पहिले आ जायँगे, अतः परमार्थ पथ के पथिक को गुणग्राही होना चाहिये। सन्त पुरुष पराये के परमाणु सदृश गुण को पर्वतके समान करके अपने हृदय मे उनका विकास करते हैं। सर्प मे मैंने बहुत से गुण देखे, उससे मैंने बहुत सी शिक्षायें ग्रहण कीं, इसलिये उसे मैंने अपना परम गुरु मान लिया।"

राजाने पूछा—"ब्रह्मन्! सर्प से आपने कौन कौन सी शिक्षायें लीं ?"

अवधूत मुनि बोले—राजन्! पहिली शिक्षा तो मैंने सर्प से यह ली कि जैसे सर्प अकेला रहता है, वैसे यति को भी चाहिये कि सदा अकेला रहे। राजन्! चाहें आप मानें अथवा न मानें जो जिसके साथ रहेगा, उसका हृदय पर प्रभाव अवश्य पड़ेगा। देखिये, हृदय तो बहुत कोमल वस्तु है। पत्थर कितना कठोर होता है, किन्तु रस्सी के आने जाने से उसमे भी बड़े बड़े गड्ढे पड जाते हैं। इसलिये सर्प की भाँति एकान्त मे निःसंग होकर आत्मचिंतन करना चाहिये।

दूसरी शिक्षा मैंने सर्प से यह ली कि सर्प कभी एक स्थान पर नहीं रहता। आज यहाँ है तो कल वहाँ है, ऐसे विचरता रहता है। इसी प्रकार भिक्षु यति को कहीं एक स्थान में सदा न बने रहना चाहिये। एक स्थान मे रहने से उस स्थान मे आसक्ति हो ही जाती है। संसारका अणु परमाणु हमें अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। सभी हमें बाँधना चाहते हैं, सभी हम से जुटने को-सम्बन्ध जोड़ने को समुत्सुक हैं। अतः साधु को रमते राम बने रहना चाहिये। जो जल बहता रहता है वह निर्दोष और शुद्ध रहता है। जो जल एक स्थान मे रुक जाता है, उसमें दुर्गन्ध

आने लगती है, कीड़े पड़ जाते हैं, अपेय हो जाता है। इसी प्रकार साधु को विचरते रहना चाहिये । कहावत है 'पानी बहता भला, साधु रमता भला'

तीसरी शिक्षा सर्प से मैंने यह ली, कि सर्प सदा सचेष्ट रहता है। उसके कान नहीं होते, आँखों से ही देखता है, उनसे ही सुनता है। इसीलिये सर्प का एक नाम है 'चक्षुश्रवा'। इसी प्रकार यति को परमार्थ के विषय में सदा सचेष्ट बने रहना चाहिये। कभी भी आलस्य प्रमाद को पास न फटकने दे। निद्रा, आलस्य, प्रमाद, ये सब तमोगुण के चिन्ह है। तमोगुण अज्ञान से होता है। इसलिये योगी को नित्य सत्व में स्थित रहना चाहिये।

चौथी शिक्षा सर्प से मैंने यह ली, कि सर्प कभी किसी के सम्मुख आकर नहीं सोता। यह तो एकान्त मे जाकर चुप चाप किसी गुफा मे पड़ा रहता है, आहार के लिये सबकी दृष्टि बचा कर निकलता है। इसी प्रकार यति को जन संसर्ग से पृथक् रह कर किसी पर्वत की कंदरा मे, सघन वन मे, निर्जन स्थान में, टूटे फूटे किसी मठमंदिर मे रहकर ध्यान–धारणा मे समय बिताना चाहिये। विषयी लोगों के घरों मे जाकर न रहना चाहिये।

पाँचवीं शिक्षा मैंने यह ली, कि जिस प्रकार सर्प क्या खाता है, कितना सोता है, क्या करता है, इन बातों को गुप्त रखता है, इसी प्रकार यति को चाहिये कि बाह्य आचरणों से अपने को छिपाये रखे। ऐसा आचरण करे जिससे लोग उसे कोई विशिष्ट व्यक्ति मानकर आदर सत्कार न करें। साधारण लोगों का सा व्यवहार रखे, कभी अपने को सिड़ी पागलो के सदृश प्रकट करे। सारांश यह कि अपने तप, तेज और प्रभाव को यथाशक्ति प्रकट न होने दे। ऐसी चेष्टा न करे कि लोग हमे अधिक मानें, पूजें, हमारा स्वागत सत्कार करें। सबसे बच कर एकान्त में अपना जीवन-निर्वाह करे।

छठवीं शिक्षा मैंने सर्प से यह ली कि जिस प्रकार सर्प अत्यंत ही अल्पभाषी होता है, उसी प्रकार योगी को भी बहुत बोलना न चाहिये। सर्प की वाणी बहुत ही कम सुनी जाती है, किन्तु उसका आतंक सर्वत्र है। बिना बोले ही लोग उसे देखते ही डर जाते हैं। इसी प्रकार योगी को बहुत व्याख्यान उपदेश न करना चाहिये। राजन् ! उपदेश व्याख्यानों को कौन सुनता है, बकते रहो। इनसे आजीविका भले ही चल सकती है। लोग तो आचरण को देखते हैं। जिसका विशुद्ध आचरण है उसका उपदेश लोग बिना ही कहे केवल देख कर ही मान लेते हैं। जो आचरण-हीन हैं, मुख से कहते कुछ हैं, व्यहार मे करते कुछ है, तो वे चाहें दिन भर बकते रहें कोई उनकी सुनता ही नहीं। इसलिये *त्यागी भिक्षु को बहुत बोलने की आवश्यकता नहीं, सर्प के समान* स्वल्पभाषी बना रहे।

ये जो छै शिक्षायें हैं सो तो औरों से भी ली जा सकती थीं, किन्तु एक सातवीं बहुत बड़ी शिक्षा मैंने सर्प से और ली। उसका योगी को सदा ध्यान रखना चाहिये।

राजाने पूछा—"महाराज ! वह सातवीं शिक्षा कौन-सी है ?"

मुनि बोले—"वह यह कि यति को कभी भूलकर भी मठ या आश्रम न बनाना चाहिये। जो मठ के चक्कर में पड़ेगा वह दुखी होगा, अवश्य होगा। राजन् ! यह शरीर तो अनित्य है, क्षण-भंगुर है। अभी है, क्षण भर में नहीं है। ऐसे शरीर का सब प्रकार से उपभोग परमार्थ निरूपण में करना चाहिये। उसे आत्म चिंतन मे लगा देना चाहिये। जो शरीर को सुखी करने को घर बनाते हैं, वे पछताते हैं। कितने कितने सघन वृक्ष पड़े हैं, जिनके नीचे रहने से न शीत लगता है न घाम। पर्वतों की गुफायें हैं, टूटे फूटे बहुत मठ मन्दिर पड़े हैं, यहीं कहीं पड़कर सन्यासी अपना निर्वाह करले। जो इस शरीरके लिये मठ बनाते हैं, आश्रम

बनाते है, कंकड, पत्थर, ईंट, चूना, बालू, वज्रलेप, लोहा, लकडीके बखेड़ेमें पड़ते हैं, उनका चित्त परमार्थसे हटकर इन अनित्य, भौतिक वस्तुओं में लग जाता है। वे इट पत्थर का चिंतन करते हुए मरते हैं और ईंट पत्थर या उनमे बसने वाले कीड़े बनते हैं। गृहस्थी घर बनाकर कभी सुखी होता है? जिसका जितना ही बड़ा घर होगा, वह उतना ही दुखी और चिन्तित होगा। जिसके जितने ही अधिक घर होंगे, उसके हृदय में उतनी ही अधिक चिन्तायें व्याप्त होंगी।"

राजाने पूछा—"भगवन्! घर मे क्या हानि है, घर भी तो जल मिट्टी से बनता है।"

शीघ्रता के साथ अवधूत मुनि ने कहा—"नही राजन्! हानि तो कुछ नहीं है। यति भी तो किसी न किसी घर मे ही रहता है। जैसे सर्प दूसरे के बनाये घर मे घुसकर उसपर अधिकार कर लेता है, और जब इच्छा होती है उसे छोडकर चला जाता है। उसमें अपनापन स्थापित नहीं करता। अपने लिये नहीं बनाता। घर चूना मिट्टी का ही हो सो बात नहीं। उसमें अपनापन होते ही वह सजीव मूर्तिमान् हो जाता है। जो अपने को पकडले, बाँधले गृहण करले उसी का नाम घर है। निर्जीव घर क्या पकडेगा। पकडती है घर वाली। घरवाली के बिना घर सूना सूना लगता है। घर वाली ही घर की देखरेख करती है, उसीमे ममत्व करती है। ये त्यागियोंकेमठ मन्दिर पहिले बडे विशुद्ध भावसे बनतेथे, इनमे भिक्षु यति रहते थे, किन्तु उनके मन मे उतना ममत्व होता ही नही ममत्व के बिना घर टिकता नहीं। अतः शनैः शनैः उन मठों मे भिक्षुणियों का प्रवेश होने लगता है और वे मठ मन्दिर गृहस्थियो के घरोंके रूप में परिणित हो जाते है, त्यागी, विरागी, भिक्षु सन्यासी पतित होकर परमार्थ से च्युत हो जाते है। कोई यह नियम कर दे कि मठ बनाकर हम उसमे स्त्रियो का प्रवेश न होने देंगे, तो

यह असंभव है। जो घर बनेगा उसमें स्त्री, पुरुष सभी जायँगे। स्त्री और पुरुष भिन्न भिन्न थोड़े ही हैं। एक ही माता के पेट से स्त्री भी उत्पन्न होती है पुरुष भी। एक ही पिता के वीर्य से लड़का भी होता है लड़की भी। घर में हाथ जाय पैर न जाय, यह असम्भव है। घर छोड़कर तो सन्यासी होते हैं, सन्यासी होकर भी घर बनाने के बखेड़े में पड़े तो समझो यह साधुता से च्युत हो गया। साधु ने जहाँ घर बनाने का संकल्प किया, वहाँ वह परमात्मा की ओर से हटकर ससार की ओर मुड़ जाता है। रस रूप परम मृदुल ब्रह्मका चिन्तन त्याग कर वह नीरस परम कठोर ईंट पत्थरों की चिन्ता करने लगता है। अत: साधु को भूलकर भी अपने नाम से स्वार्थ परमार्थ किसी भी भावना से मठ मंदिर न बनाना चाहिये। सर्प के समान टूटे फूटे घरों मे एकान्त वनों में रह कर निर्वाह करना चाहिये। राजन्! बड़े बड़े त्यागियों को मठ के चक्कर में पड़कर हमने पतित होते अपनी आँखों से देखा है। पहिले तो वह धर्म भाव से परोपकार भावना से बनाते हैं, पीछे उनमे आसक्ति हो जाती है। गृह बनवाना गृहस्थियों का ही काम है, त्यागी तो गृह को त्याग कर जाते हैं। घर त्यागकर फिर घर बनाते हैं, तो वे गृहस्थियों से भी अधिक सग्रही बनते हैं। अत: सर्प से मैंने अपने लिये घर न बनाने की शिक्षा ग्रहणकी है।"

राजा यदु ने कहा—"ब्रह्मन्! सर्प से ली हुई शिक्षा का आपने वर्णन किया, अब मैं जानना चाहता हूँ कि मकड़ी को गुरु करके उससे आपने कौन सी शिक्षा ली?"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियों! अवधूत दत्तात्रेय ने मकड़ी से ली हुई शिक्षा का जिस प्रकार राजा से वर्णन किया उसे आप श्रद्धा पूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

आम घडा सम देह पलक मह फटतैं फूटैं।
कच्चे कॉच समान आँच लागत ही टूटैं॥
जा अनित्य तनु हेतु भवन अति विशद बनावै।
हरि सुमिरन नहिँ करै व्यर्थ महँ पाप कमावै॥
पावै सूनो भवन जहँ, अहि सम रैँनि बिताइकैं।
चलै फेरि शिक्षा लई, अहि गुरुदेव बनाइकैं॥

—※—

मकड़ीसे शिक्षा

(१२४४)

यथार्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः ।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥*
(श्रीभा० ११स्क०९अ०२१श्लो०)

छप्पय

मकड़ी तैं शुभ सीख महेश्वर लीला लीन्हीं ।
नित्य सृजन थिति प्रलय करै गुरुता तैं कीन्हीं ॥
हिय तैं मुखके द्वार जाल विस्तृत फैलावै ।
तामें करै विहार लीलि पीछें तैं जावै ॥
कल्प आदि महँ जगत् कूँ, रचैं मध्य क्रीड़ा करैं ।
कल्प अन्त महँ निज रचित, सबकूँ हर बनि संहरैं ॥

बालक जब खेलता है, तो मनसे ही खिलौनोंकी कल्पना करता है और फिर मनसे ही उन्हें नष्टकर देता है। यह सब मनका ही विलास है, इसमें जिसने सत्यताका आरोप किया वही फँसा। सबको भगवान्‌की क्रीड़ा समझे तब संसारकी किसी भी घटनासे सुख दुख न होगा। भगवान् अपने ही आनन्दके लिये विहार कर

---

*अवधूत दत्तात्रेय राजासे कह रहे हैं—"राजन् ! जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदयसे मुख द्वारा सूतको निकालकर जाला बिछाकर उसमें विहार करके अन्तमें उसे निगल भी जाती है, उसी प्रकार परमात्मा इस जगत्‌को फैलाकर उसमें विहार करके अन्तमें अपनेमें लीन कर लेते हैं।"

रहे हैं। शतरंजका खिलाड़ी अपने आप ही वस्त्रको बिछाता है, अपने आप ही गोटोंमें राजा, मंत्री, हाथी, घोड़ा, आदिकी कल्पना करता है। इच्छा होती हैं तब तक खेलता है। जब इच्छा न हुई सबको समेटकर अपने घरके भीतर रख लेता है। प्रत्येक कर्मको जो कृष्णकी क्रीड़ा समझता है, वह फिर जन्ममरणके चक्करमे नही पडता। पड़े भी क्यो, उसके लिये जन्ममरण कुछ है ही नहीं। सब विहारीका विहार है, लीलाधारीकी लीला है, क्रीड़ाप्रियकी क्रीड़ा है, खिलाड़ीका खेल है, मायेशकी मोहिनी माया है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! दत्तात्रेयमुनि मकड़ीसे ली हुई शिक्षाका वर्णन करते हुए राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन् मकड़ी-से मैंने यही सीखा कि इस दृश्य प्रपञ्चको मकड़ीका सूत-केवल मायामात्र—समझे। भगवान् ही मायासे पसारेको फैलाते हैं, अन्तमें वेही समेट लेते हैं। यह पहिले कुछ नहीं था, बीचमें दीखने लगा, अन्तमें फिर इसे उन्होंने समेट लिया।"

राजाने पूछा—"यह शिक्षा आपने मकड़ीसे कैसे ली ?

मुनि बोले—"देखिये राजन्! मकड़ी कहींसे कपास नहीं लाती है, न वह चरखा चलाती है, न सूत कातती है, न ताना बाना बुनती है। अपने हृदयसे ही वह मुख द्वारा सूत्र निकालती है। उसमे कितना सूत भरा है इसकी कोई सीमा नही। वह निकालती ही जाती है, निकालती ही जाती है। निकालकर बड़ा सुन्दर जाला बनाती है, फिर उसमें आनन्दसे विहार करती है, इधरसे उधर फुदकती है, उसीमे क्रीडा करती है। जब इच्छा होती है, उसे फिरसे निगल जाती है, अपने हृदयमें रख लेती है। इसी प्रकार भगवान् इस संसारकी रचना करते हैं।"

राजाने पूछा—"कैसे रचना करते हैं भगवन्! इस इतने बड़े जगत्को श्रीहरि ?"

मुनि बोले—"राजन्! भगवान्के लिये क्या छोटा क्या बड़ा।

जो समस्त भूमिका स्वामी है, वह अपने खेलनेके लिये चाहे जितनी बडी भूमि बनवा ले। पूर्वकालमें यह दृश्य प्रपञ्च इस प्रकार व्यक्त नहीं था। भगवान्‌की रमण करनेकी इच्छा हुई। अकाम पुरुपकी खेलनेकी कामना हुई। पूर्व सृष्टिके अन्त होनेपर त्रिगुणमयी प्रकृति काल पाकर गुणोंकी साम्यावस्था होने के कारण सो रही थी। वह कहीं अन्यत्र खाट बिछाकर सोती तो भगवान्‌को उसे ढूँढने भी जाना पडता, किन्तु वह सो रही थी भगवानके भीतर ही। काल भी वहाँ खडा खडा प्रहरीका काम कर रहा था। वह बडा सतर्क खडा था। कब वे कोनसी आज्ञा दे दें। कर्म और स्वभाव भी प्रकृतिके पास ही पडे सो रहे थे। गुण सब बराबर हो रहे थे। सबको समान निद्रा आ रही थी, उनकी दशा तनिक भी न्यूनाधिक नहीं थी, सभी साम्यभावमें स्थित थे। उस समय बाहर कुछ नहीं था, वे आदिपुरुप प्रभु केवल अद्वयभावमें अवस्थित थे। अब उन विशुद्धविज्ञानानन्दघन निरुपाधिक परमात्माकी कुछ क्रीडा करनेकी इच्छा हुई। काल तो वहाँ सचेष्ट खडा ही था। प्रभुकी इच्छा समझकर उसने प्रकृतिको झकझोरा, रजोगुण उठ गया, सत्वगुण विचारता ही रहा—मैं उठूँ न उठूँ और तमोगुण अँगडाइयाँ लेता रहा। अँगडाइयाँ लेकर फिर सो जाता, फिर करवट बदलता। इस प्रकार तीनोंकी ही समसे विपम अवस्था हो गयी।

कालने देखा, इनकी दशामें तो विपमता आ गयी। रजोगुणकी वह क्रियाशक्ति भी उठ गयी। सत्वगुणकी वह ज्ञानशक्ति भी पतिके साथ विचार करती रही और तमोगुणकी वह आवरण-शक्तिने अपने पतिके विपरीत आचरण नहीं किया, उसने उसी पथका अनुसरण किया।

तब कालने क्रियाशक्तिसे कहा—"सुनती हो देवीजी! भगवान् खेलना चाहते हैं, शीघ्रतासे गर्भ धारण करो। पुत्र बच्चे हों वंश बढ़े चहल पहल हो। चेंमें चेंमें सुनकर भगवान् हँसने लगे।"

वह बोली—"कालदेव ! यह तो आप बहुत शीघ्रता कर रहे हो। ऐसे एक साथ बच्चे कैसे पैदा हो सकते है। एक पैदा मैं किये देती हूँ, उसीका वंश बढ़ जायगा।"

कालने कहा—"अब कुछ करो तो सही। ऐसे बात बनानेसे क्या होगा।"

यह सुनकर तुरन्त उस मायादेवीने जो क्रियाशक्ति प्रधान थी, एक बच्चा पैदा किया। उसके पेटमें जाल बनानेके सूत्र ही सूत्र भरे हुए थे, अतः उसका नाम सूत्रात्मा रख दिया। सृष्टिके आदिमे वही सबसे महत् तत्व था, इसलिये उसका नाम महत्तत्व भी प्रसिद्ध हुआ। वह अपने ताऊ सत्वगुणका, अपने पिता रजोगुण-का और अपने चाचा तमोगुणका एकमात्र उत्तराधिकारी हुआ। सभीने उसे पुत्र-रूपमे स्वीकार कर लिया। वेदका वचन है कि तीन भाइयोंमेंसे एकके भी सन्तान हो जाय, तो उसी सन्तानसे तीनो पुत्रवाले कहलाते हैं। इसी न्यायसे वह महत्तत्वको तीनो ही गुणो-का कार्य करनेवाला कहते हैं। त्रिगुणमयी समस्त सृष्टि इस महत्तत्व से ही हुई। अब आगे जो भी सन्तानें हुईं सब इसीके कच्चे बच्चे हैं। महत्तत्वसे अहंकार हुआ। उसके भी सात्विक राजसिक और तामसिक तीन भेद हुए। फिर दशों इन्द्रियाँ उनके अधिष्ठातृदेव, मन, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श दश प्रकारके प्राण तथा और भी सब स्थावर जंगम उत्पन्न हुए। बड़ा भारी जाल बिछ गया। महान् विस्तार हो गया। सत्वमूर्ति भगवान् विष्णुरूपसे उसमें खेलते रहे उसकी रक्षा करते रहे, उसकी देख

खेल करने लगे। खेलते खेलते भगवान्‌को थकावट आ गयी, वे उससे उपराम से दिखायी दिये। कालदेव समझ गये, भगवान् सोना चाहते हैं। अब उनकी खेलनेकी इच्छा नहीं है। कालने तुरन्त खलको दबा दिया, पृथिवी गलकर जलमें लय हो गयी, जल अग्निमें जल गया, अग्नि वायुमें उड़ गयी, वायु आकाशमें समा गया। इन सबके कार्य इन्हींमें लीन हो गये। ये सब अहंकारमें घुस गये। अहंकार महत्तत्वमें मिल गया। तीनों गुण फिर साम्यावस्थामें हो गये। प्रकृति फिर अपने विस्तरको झाड़कर भगवान्‌के भीतर छिपकर सो गयी। प्रधान और पुरुषके नियन्ता वे सर्वाधिष्ठान रूप आत्माधार पुरुषोत्तम एकाकी रह गये। अब उन्होंने रमणसे चित्त हटा लिया, क्योंकि एकाकी तो रमण होता नहीं। खेलकी सामग्रीको तो वे समेटकर लील गये, उदरस्थ कर गये। समस्त लौकिक तथा अलौकिक प्रपञ्चके आदि कारण वे श्रीमन्नारायण शेषकी शय्यापर तान दुपट्टा सो गये।

अवधूतमुनि कह रहे हैं—"हे चन्द्रवंशावतंश राजन्! यही भगवान्‌की माया है। यही सृष्टि, स्थिति और प्रलयका गूढ रहस्य है, इसे कोई कोई ही ज्ञानी विज्ञानी पुरुष समझ सकता है। मकड़ीसे मैंने यही सीखा और इसीलिये मैंने उसे अपना गुरु मान लिया।"

राजाने कहा—"भगवन्! मकड़ीकी शिक्षा तो मैंने सुनी, अब आप यह बतावें कि भृङ्गी कीटको गुरु बनाकर उससे आपने कौन-सी शिक्षा ग्रहणकी ?"

मुनि बोले—"राजन् ! भृङ्गी कीट यही मेरा अंतिम चौबीसवाँ गुरु है। अब आप इससे ली हुई शिक्षाको भी श्रवण करें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अवधूत दत्तात्रेय भगवान्‌ने जैसे भृङ्गी कीटकी शिक्षा कही उसे मैं आपको सुनाता हूँ।

छप्पय

ईश्वर आतमाधार अकेले पुनि रह जावें।
मायाकूँ करि क्षुब्ध सूत्रकूँ फेरि बनावें॥
जामें ओतप्रोत जगतके जीव चराचर।
प्रकृतिपुरुषके ईश करें नित खेल परावर॥
रचै हरै रक्षा करै, हरि समान क्रीड़ा करति।
जगबन्धनमें नहिं परै, मनुमुक्ति खिलारी खेल यति॥

—:※:—

भृङ्गीकीटसे शिक्षा

(१२४५)

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन्कुड्यां तेन प्रवेशितः ।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन् ॥*

(श्रीभा० ११स्क० ६ अ० २३श्लो०)

छप्पय

रचि घर भृङ्गीकीट पकरि कीडा कूँ लावे ।
करिकें घरमें बन्द निरन्तर शब्द सुनावे ॥
ताकौ सुनि सुनि शब्द ध्यान भृङ्गीको करिकें ।
भृङ्गी ही बनि जाय एक ही तन तैं डरिकें ॥
ध्यान धरत तद्रूपता, होवै निश्चय यह भई ।
गुरु करि भृङ्गी कूँ तुरत, उपयोगी शिक्षा लई ॥

मानव हृदय खींचनेका यन्त्र है, उसके सम्मुख जो आवेगा उसीका चित्र उसमें खिच जायगा । जलमें, दर्पणमें भी देखेगा उसीका प्रतिबिम्ब दिखाई देगा । इसी प्रकार हृदयपर जिसकी भी छाप लग जाती है, जो भी हृदयको पकड़ लेता है, जिसका भी प्राणी निरन्तर चिन्तन करता है उसीके अनुरूप बन जाता है ।

---

*अवधूतमुनि राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन् ! भृङ्गी अपने घरमें कीड़ाको बन्दकर देता है । इसलिये वह कीड़ा भयके कारण उसीका ध्यान करता रहता है और अन्तमें उसीके रूपवाला बन जाता है । अपने पूर्वके शरीरको वह छोड़ता नहीं, फिर भी भृङ्गाके समान हो जाता है ।"

एक कथा है, किसी योगीके पास कोई साधारण कृषक गया, कि महाराज, मुझे योग सिखा दो।"

योगीने सोचा—योग तो होता है, चित्तकी वृत्तियोंके निरोध से। चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होना सरल नहीं। चित्तकी वृत्ति या तो वहाँ टिकटी है जहाँ अत्यन्त द्वेष हो, जैसे शिशुपाल आदिका श्रीकृष्ण भगवान्से था, अथवा अत्यंत भयसे भी चित्त एकाग्र हो जाता है, जैसे कंसका श्रीकृष्णके निरन्तरके भयसे चित्त उन्हींमें तन्मय हो गया था। सबसे श्रेष्ठ चित्तके एकाग्र करनेका उपाय है स्नेह। किसीके प्रति हृदयमें स्नेह उत्पन्न हो जाय तो फिर वह सम्मुख रहे या न रहे, दूर रहे या समीप रहे प्रतिक्षण उसका चिन्तन बना रहता है। उससे पीछे सभी तुच्छ दिखाई देते हैं। स्नेह होता है सरस हृदयमें, जो नीरस हैं, पाषाण हृदयके हैं वे स्नेह करना क्या जानें। इसलिये इसका जिससे प्रेम हो उसीका ध्यान बताऊँ। क्योंकि यथाभिमत ध्यानसे ही चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो सकता है।

यही सब सोचकर योगी बोले—"भैया! तुम्हारा विवाह हुआ है?"

उसने कहा—"नहीं महाराज! मैं दरिद्र आदमी हूँ, मेरा विवाह कौन करेगा।"

योगीने पूछा—"अच्छा, यह बताओ तुमने कभी किसीसे प्रेम किया है? तुम्हें सबसे प्रिय वस्तु कौन है?"

उसने कहा—"महाराज! मेरी भैंस बड़ी सीधी है, न सींग चलाती है न लात मारती है। जब चाहो उसे दुह लो। जो डाल दो वही खा लेती है, बड़ी भोलीभाली है वही मुझे सबसे प्रिय है।"

योगीने कहा—"अच्छी बात है, एकान्तमें बैठकर तुम उस भैंसका ही ध्यान किया करो।" ऐसा उपदेश देकर योगी चले

गये।

कुछ दिनोंके पश्चात् योगी पुनः आये, अपने शिष्यसे पूछा—"कहो भाई, क्या समाचार हैं ? कैसा ध्यान होता है ?"

उसने कहा—"भगवन् ! इतनी बड़ी भैंसका ध्यान होता नहीं।"

योगी समझ गये कि अब यह साधनमें अग्रसर हुआ है। बात यह है कि जब मनुष्य साधनमें प्रवृत्त होता है, तभी उसे उसकी असुविधायें प्रतीत होती हैं। लोग कहा तो करते हैं–'मनको वशमें करो, मनको वशमें करो, किन्तु मन क्या है इसीका लोगोंको पता नहीं। जिसने निरन्तर साधनाकी है वही मनके स्वरूपको जान सकता है। बकनेवाले तो जीवन भर बकते बकते मर जायँगे, उन्हें मनका स्वरूप ही प्रतीत न होगा।" इसे ज्ञानकी असुविधायें ज्ञात होने लगीं। यही सोचकर बोले—"अच्छा, तुम्हें भैंसका कौनसा अङ्ग सबसे प्रिय है ?"

उसने कहा—"महाराज ! मुझे तो भैंसके सींग बहुत प्यारे हैं।"

योगीने कहा—"अब सब अङ्गोंका ध्यान छोड़कर एकमात्र सींगोंका ही ध्यान करो।" ऐसा उपदेश देकर वे चले गये। यह एक छोटीसी कोठरीमें बैठकर ध्यान करता था। कुछ दिनोंके पश्चात् योगी गुरु पुनः आये और उन्होंने पुकारा—"महिषीदास ! निकल तो आ भैया ! बाहर।"

उसने वहींसे नेत्र बन्द किये ही किये कहा—"गुरुजी ! निकलूँ कैसे मेरे सिरपर तो दो बड़े बड़े सींग हैं। इस कोठरीमेंसे मैं सींगोंके कारण निकल नहीं सकता।"

योगी अब समझ गये कि अब इसका मन ध्येयमें तद्रूप होने लगा। यह ध्यानका अधिकारी हो गया। पीछेसे उसे भैंसके सींगके स्थानमें भगवान्के हास्ययुक्त मुखारविन्दका ध्यान बताया।

उसका चित्त एकाग्र होना तो सीख ही चुका था, उसे भैंसके सींगके स्थानमे भगवान्‌के मुखारविन्दके ध्यानमें कोई कठिनाई नहीं पड़ी। अन्तमें वह भी योगी हो गया।

इस कथाके कहनेका सारांश इतना ही है कि किसी भी कारण जिसका चित्त एकमें तन्मय हो जाता है, वह सरलतासे भगवान्‌को पा लेता है। जिसका चित्त बहुतोंकी ओर चलता है, उस चंचल चित्त पुरुषका मन कभी एकाग्र नहीं हो सकता। एक पतिको ही इष्टदेव समझनेवाली स्त्री पतिलोकको प्राप्त हो सकती है। जिसका चित्त चंचल है, जो स्वैरिणी कामिनी तथा पुंश्चली है उसे एक नरकसे दूसरे नरकोंमे इसी प्रकार भटकना पड़ता है। मनुष्य जिसका चिन्तन करेगा वही उसे यहाँ प्राप्त होगा और परलोकमे भी वही मिलेगा। जो यहाँ करता है वही परलोकमें प्राप्त होता है। हाटमें जो कमावेगा उसीको बैठकर घरमें खावेगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अवधूतमुनि राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन्! एक दिन मैं घूमता फिरता एक गाँवमे पहुँच गया। मैंने देखा एक कीडा मुखमे मिट्टी भर भरकर दीवालपर एक छोटासा घर बना रहा है। मैं बड़े कुतूहलसे देखता रहा। उसने बड़ा सुन्दर छुहारेकी भाँति घर बना लिया। उसमे कहींसे निकलनेका मार्ग नहीं था। मुखपर एक ही द्वार था। वहाँसे वह एक कीडेको पकड लाया।

मैंने सोचा—"यह इसे मारकर खा जायगा।" किन्तु उसने उसे मारा नहीं। जीवित ही उस घरमे बन्दकर दिया और उसके कानके पास गुनगुनाता रहा। द्वारपर ऐसा जालासा लगा दिया था जिससे कि वायु तो उसमें जा सकती थी, किन्तु वह कीड़ा उसमेंसे निकल नहीं सकता था, भृङ्गी इधर उधर चला जाता और फिर आकर उसीके कानके पास गुनगुनाने लगता। वह उस घरमे बन्द कीड़ा भयके कारण निरन्तर उसी भृङ्गीका चिन्तन करता रहता।

निरन्तरके चिन्तनका यह प्रभाव पडा कि वह कीडा इसी शरीरसे बिना शरीर त्यागे— भृङ्गीके रूपके समान ही बन गया। उसी के सदृश बन गया। उसी समय तुरन्त मैंने उसे अपना गुरु मान लिया और उससे यह शिक्षा ग्रहणकी, कि देहधारी जीव जिसका द्वेषमे, भयसे अथवा स्नेहसे चिन्तन करता है,सम्पूर्ण रूपसे उसीमें चित्तको लगा देता है, तो अतमे उसीका सा बन जाता है, तद्रूप हो जाता है। जो विषयोंका ध्यान करेगा उसका मन विषयाकार हो जायगा और जो ब्रह्मका ध्यान करेगा वह ब्रह्मरूप हो जायगा। यह शिक्षा लेकर में चल दिया और तबसे ब्रह्मका ध्यान करते करते [मैं ब्रह्मके सदृश-माया मोहसे रहित चिन्ता शोकसे शून्य हो गया हूँ और निर्द्वंद होकर विचरता रहता हूँ। ये ही मेरे चोबीस गुरु हैं। इन सबकी शिक्षाके कारण ही मैं मान अपमानसे रहित होकर बालवत क्रीडा करता रहता हूँ।"

राजाने पूछा—"ब्रह्मन्! इन चोबीस गुरुओंके अतिरिक्त भी आपका कोई गुरु और है ?"

अवधूतमुनि बोले—"हाँ राजन्! इनके अतिरिक्त सबसे बडा गुरु तो यह मेरा शरीर है। इससे मैंने बडी भारी शिक्षा ली है।"

राजाने पूछा—"ब्रह्मन्! शरीरको गुरु बनाकर आपने इससे क्या शिक्षा ली, कृपा-करके उसे भी मुझे सुना दें।"

मुनि बोले—"अच्छी बात है राजन्! सुनिये, अब मैं शरीरसे ली हुई शिक्षायें भी सुनाता हूँ।"

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो ! अब आप
देहसे ग्रहणकी हुई शिक्षाको सुनें।"

छप्पय

काहूमें भय द्वेष नेहवश चित लगि जावै।
भृङ्गी कीड़ा सरिस तुरत तन्मय बनि जावै॥
तन गुरु कर्यो विवेक होहि वैराग्य भूपवर।
उतपति और विनाश होय दुख सहै निरन्तर॥
यद्यपि जातैं तत्वको, चिन्तन हौं नितप्रति करूँ।
जानि परायो मोह तजि, है असंग निर्भय फिरूँ॥

—:※:—

देहसे शिक्षा

(१२४६)

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
विभ्रत्स्म सत्त्वनिधनं सततात्युदर्कम् ।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ६ अ० २५ श्लो०)

छप्पय

दारा, सुत, धन, भृत्य, कुटुम घर सचय करिकें।
परहित श्रम नित करै वृक्ष सम दुख बहु सहिकें॥
अपनी अपनी ओर खेंचि इन्द्रिय लै जावैं।
जैसे पतिकूँ सौति पकरिकें बहुत नचावैं॥
परमारथ जातैं सधै, वर नर तन कूँ पाइकें।
मोक्ष हेतु श्रम नहिँ करै, सरबसु जाइ गँमाइकें॥

किसी देशमे चले जाओ किसी योनिमें चले जाओ, पेट सभी स्थानोंमें भरना पडेगा। सभी योनिके लोग अपने अपने

*अवधूतमुनि दत्तात्रेय राजा यदुसे कह रहे हैं—'राजन्! यह देह भी मेरा गुरु है, क्योंकि यह विवेक और वैराग्यका हेतु है। उत्पत्ति और विनाश ही इसके धर्म हैं। निरन्तर कष्ट भोगते रहना ही इसका उत्तरोत्तर फल है। यद्यपि मैं इससे तत्व चिन्तन करता हूँ तथापि मैं यह जानता हूँ, कि यह अपना नहीं है, इसीलिये इससे असंग होकर विचरण करता रहता हूँ।"

भोजनके लिये प्रयत्न करते हैं। सन्तानोत्पत्ति किसीको सिखानी नहीं पड़ती, सभी योनियोंमें यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है। श्रम करके सभी श्रमित हो जाते हैं। सभी कुछ न कुछ विश्राम करके निद्रा लेकर अपने श्रमको मिटाते हैं। जो वस्तु आवश्यक है और अपने पास नहीं है उसके लिये प्रयत्न करना और जो वस्तु अपने पास है उसकी रक्षा करना यह तो जीवमात्रका स्वभाव है। इसके लिये मनुष्यको आदेश उपदेश देना कोई उत्तम कार्य नहीं है। उपदेश तो उसके लिये देना है जो वस्तु नर-तनमें ही प्राप्त हो सकती है—जिसे अन्य चौरासी लाख योनियाँ प्राप्त ही नहीं कर सकतीं—उसीकी शिक्षा देना यही धर्म है। मनुष्य शरीरमें यही विशेषता है। जो ऐसा नहीं करता वह मणिको काचके मूल्यमें बेचता है। सुवर्णके बटखरे बनाकर उससे भूसा तौलता है और अमृतका उपयोग करील मन्दार आदिके सींचनेमें करता है। मनुष्य-शरीर का सर्वोत्तम उपयोग यह है कि जन्म मरणके बन्धनसे छूट जाय। जिस महान् शक्तिसे पृथक् होकर अपनेको अल्प और सीमित समझने लगा है, उसके समीप चला जाय, उसमें मिल जाय, एकीभूत हो जाय। जो इसके लिये प्रयत्नशील न होगा, उसे बार-म्बार जन्मना मरना होगा। नाना क्लेशोंको सहना होगा।

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—मुनियो! दत्तात्रेय अवधूतने अपने शरीरको गुरु क्यों बनाया इसी बातको बताते हुए वे राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन्! चौबीस गुरु करके पचीसवें अपने इस शरीरको भी मैंने अपना गुरु बनाया। इस शरीरसे ही मुझे विवेक होता है। मेरे वैराग्यका हेतु भी यही शरीर है।"

राजाने पूछा—"भगवन्! यह शरीर विवेक और वैराग्यका हेतु कैसे है?"

मुनि बोले—"राजन्! देखो, यह शरीर उत्पन्न होता है,

बढता है, फिर शनैः शनैः जर्जर होता है और अन्तमे नाश हो जात है। फिर इससे नये शरीरोंकी उत्पत्ति होती है। इससे मैंने विचार कि जन्मना मरना ही इसका स्वभाव है। इसमें नित्यता नहीं, स्थायित्व नहीं। कोई शरीरधारी आप मुझे ऐसा बतला दें जिसे कष्ट न हो। हम साधारण निर्धन लोग समझते हैं कि धनी बडे सुखी होंगे, किन्तु धनी तो बहुतसे मेरे पास आते हैं, उनके दुःखोंको सुनकर तो मैं यही समझता हूँ—इनसे तो दरिद्री ही सुखी हैं। जो जितना ही संग्रही होगा, वह उतना ही अधिक दुखी होगा। संसारमे केवल उपस्थ और जिह्वाका क्षण भरका सुख है वह भी परिणाममें दुखद ही होता है। जिसका परिणाम दुखद है उसे सुख अज्ञानी मूर्ख ही मान सकते हैं। संसारमे जिधर देखो उधर दुःख ही दुःख है, चोरसे दुख, राजासे दुख, शत्रुसे दुख, कुटुम्बसे दुख, धनसे दुख, रोगोंसे दुख, चिन्ताओंसे दुख, कहाँ तक गिनावें शरीर जितना ही बढता जाता है उतना ही उत्तरोत्तर दुख ही बढता जाता है। इसलिये इस शरीरसे मुझे वैराग्यकी शिक्षा मिली है। इस दुखके भडार शरीरको मैं अपना नहीं समझता।"

राजाने पूछा—"ब्रह्मन्! इस शरीरका फल दुःख ही दुःख है, इससे सुखका साधन नहीं हो सकता ?"

शीघ्रतासे मुनि बोले—"हो क्यों नहीं सकता राजन्! इससे सुखकी बात तो प्रथक् रही, परम सुख प्राप्त हो सकता है। मनुष्य शरीरसे ही तो मोक्षकी प्राप्ति होती है। इसी शरीरके द्वारा तो परम तत्वका मैं चिन्तन करता हूँ, किन्तु इसे मैं साध्य न मानकर साधन मानता हूँ इससे ममता नहीं करता। जैसे बद्रीनाथकी चढाई हम कपडेके जूतोंसे करते हैं। वहाँ पहुँचते पहुँचते वे फट जाते हैं, तुरन्त उन्हें फेंक देते हैं। इसी प्रकार यह शरीर साध्य नहीं केवल मोक्षका साधन है। इसके द्वारा धारणा ध्यान समाधि

का अभ्यास करता हूँ, किन्तु मेरा यह निश्चय है कि यह देह दूसरोंका भक्ष्य है। कहीं वनमें मृतक हो गया तो सियार, चील, गिद्धोंके पेटमें चला जायगा, किसीने जलमें फेंक दिया तो कछुआ आदि खा जायँगे, किसीने चितामें जला दिया तो अग्नि भस्म कर देगी। जो दूसरोंका भक्ष्य है, उसे मैं अपना कैसे मानूँ? इसीलिये शरीरमें मेरी कोई आसक्ति नहीं, इससे मैं असंग होकर विचरण करता हूँ।

आप सोचें राजन्! मनुष्य जो भी कुछ करता है अपने सुखके लिये करता है। एक दुखीको देखकर हमारे हृदयमें दया उमड़ती है, हमसे रहा नहीं जाता, हम उसे कुछ धन देते हैं, तो हमें शान्ति होती है। बहुतसे लोग दुखी हैं, हमारा हृदय भर आता है। हम अनुभव करते हैं कि यदि हम अपने शरीरकी आहुति दे दें तो इनका दुख दूर हो जायगा, तब हम तुरन्त शरीरको होम देते हैं। इसलिये स्वार्थ परमार्थ जो भी मनुष्य करता है अपने लिये करता है।

विवाह करते हैं, तो स्त्रीके लिये थोड़े ही करते हैं अपने सुखके लिये करते हैं। स्त्री भी अपने सुखके लिये पतिका वरण करती है। दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। दोनोंके स्वार्थ अभिन्न होनेसे परस्परमें प्यार करते हैं। स्त्री इसलिये प्यारी लगती है, कि वह अपनी है अपने अनुकूल है। पुत्र तो सभी किसी न किसीके हैं, किन्तु अपना पुत्र अधिक प्यारा है। लोग चाहते हैं हमारे पुत्र हों। अपनी कामनाका विस्तार जब करता है तभी उसका परिवार बढ़ता है। अपनी स्त्री है तो अपना पुत्र भी होना चाहिये। एक पुत्रसे सुख न होगा बहुतसे पुत्र पैदा करो। कुछ कन्यायें भी हों, उनका विवाह भी किया जाय। जामाता हों, पुत्रोंका विवाह हो, पुत्र-वधुएँ आवें। उनके भी लड़का हो लड़की हो। धनके बिना इतना बड़ा परिवार कैसे चले, कुछ धन भी हो, व्यापार हो, खेती

हो, बैल हों, गौएँ हों भैंस हो, घोड़े भी हों, हाथी भी रहें, रथ भी रहें। इन सबकी देखरेखके लिये नौकर-चाकर भी होने चाहिये मकान भी हों—पक्के न हों कच्चे ही हों, फूसकी झोंपडियाँ ही हों इस प्रकार अपने आप ही कुटुम्बका जाल बिछाते हैं। अपने ही आप बड़े बड़े कष्ट उठाकर झूठ सच बोलकर धन सञ्चय करते हैं। इससे सञ्चय करनेवालेको बताइये सिवाय ममताके क्या सुख है।

एक आदमीने करोड़ रुपये एकत्रित कर लिये, वह उन्हें व्यय नहीं करता है केवल उसे यह सन्तोष है मैं करोडपति हूँ। एकक दश पुत्र है, उसे गाली देते हैं मारते हैं या प्यार करते हैं जीवन भर उन्हींके सुखकी चिन्ता करता रहता है उसे क्या सुख है? एक वृक्ष है मैली खाद खाकर बढता है, वर्षामें वर्षा सहता है। गर्मियों मे घाममें खडा रहता है, लू सहता है, जाडोमे जाडा पाला सहकर बाहर खडा रहता है सुन्दर सुन्दर फलोंको उत्पन्न करता है उनका स्वाद दूसरे लोग चखते हैं। उसे तो सडी खादपर निर्वाह करके कष्ट ही कष्ट सहना पडता है। इसी प्रकार यह मनुष्य-शरीर है। कर्मरूपी बीजसे यह उत्पन्न हुआ है। अपनी शाखाओंके फलों-से दूसरोंके लिये सब कुछ करता रहता है। फिर बीज पैदाकर देता है। वे भी दूसरोंके लिये उत्पन्न होते हैं। जितनी चिन्ता मनुष्य कुटुम्ब परिवार, धन और व्यापार आदिके लिये करता है उतनी भगवान्‌के लिये करे तो उसका बेडा पार हो जाय, जन्म-मरणके चक्करसे सदाके लिये छुट जाय।"

राजाने कहा—"भगवन्! धनसे पुत्रसे सुख न मिले किन्तु इन्द्रियोंको अनुकूल विषय मिल जाते हैं तो उनसे तो मनुष्यको सुख होता ही है।"

मुनि बोले-अजी, राजन्! कहाँ सुख होता है, सच पूछिये तो अधिक संग्रह करनेसे दुःख ही अधिक होता है। कोई यह सोचकर

बहुतसे विवाह कर ले कि एक स्त्रीसे जब इतना सुख मिलता है तो बहुत स्त्रियोंसे बहुत सुख मिलेगा, तो क्या उनसे सुख ही सुख मिलेगा ?

राजन् ! एक बार में घूमता फिरता एक नगरमे पहुँच गया। वहाँ एक पुरुषके पाच स्त्रियाँ थीं। मैंने सोचा—यह बडा आदमी है, इसके पाँच स्त्रियाँ हैं, यह बडा सुखी होगा, लाओ कुछ देर तक इसके सुखको देख ले। मैं तो अवधूत ही ठहरा। मेरी कहीं रोक टोक तो थी ही नहीं, मैं वहीं बैठ गया।

उन स्त्रियोंमेंसे एक बोली—"बाबाजी ! क्या देख रहे हो ?"

मैंने कहा—"मेरे देखनेको क्या है,मैं तो संसारमे खेल देखता फिरता हूँ।"

वह हँस पडी और बोली—"अच्छा बैठे रहो, तुम्हे एक खेल हम भी दिखावेंगी।" मैं एक ऊँचेसे स्थानपर बैठ गया।

उन ५ स्त्रियोंके घर पृथक् पृथक् थे। चार तो ऊपर कोठेपर रहती थीं, एक सब जगह अपना आसन रखती थी। वे चोटियोंमे फूल लगाकर, वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर, पान बीरो खाकर, काजर बेंदी लगाकर सजी बजी बैठी थीं। इतनेमें ही उनका पति आ गया। पहिले वह सब स्थानोंमे आसन रखनेवाली दौडी कि देखो ! आज तुम्हे मेरे घरमे रहना पडेगा।"

इतनेमें ही वे ऊपरवाली चारों दौडकर आ गयीं, उनके चार जीने थे। एकने हाथ पकडा मेरे यहाँ चलो। दूसरीने दूसरा हाथ पकडा इसके यहाँ कैसे चलोगे मेरे यहाँ चलो। तीसरीको कुछ न मिला तो उसने चोटी ही पकड ली। चौथीने कान ही खींचने आरम्भ किये। मैं बैठा बैठा हँस रहा था। मुझे इस खेलमें बडा आनन्द आ रहा था। बडी देर तक यह खींचातानी होती रही।"

राजाने कहा—'ब्रह्मन् ! वह आदमी बडा मूर्ख था, उसने पाँच विवाह क्यों किये। उसे पाँच विवाह करने ही थे, तो सीधी

सादी सरल स्वभावकी स्त्रियोंसे करता। ऐसी चंचलचित्ता लड़ने झगड़नेवाली चंडियोंको उसने अपनी पत्नी क्यों बनाया ?"

हँसकर अवधूतमुनि बोले—"राजन्! वही मूर्ख नहीं था। सभी इन्द्रियवान् पुरुष मूर्ख हैं। ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ सभीकी पत्नी हैं। ये मनुष्योंको अपनी अपनी ओर खींचती हैं। सब स्थानोंमें आसन रखनेवाली यह त्वचा इन्द्रिय चाहती है—जो सुन्दर कोमल स्पर्शवाली हो उसे हृदयसे चिपटा ले। जिह्वा चाहती है जो भी स्वादिष्ट मिल जाय उसका रस चख लें। श्रवणेन्द्रिय सुन्दर शब्दोंको सुननेके लिये समुत्सुक बनी रहती है। आँखें सुन्दर सुन्दर रूपको देखनेके लिये लालायित रहती हैं। जैसे पाँच घर वालियाँ अपने पतिको नचाती रहती हैं वैसे ही ये इन्द्रियाँ मनुष्यको अपनी अपनी ओर खींचती रहती हैं। जिनकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं वे कैसे सुखी रह सकते हैं। मनुष्य-देह पाकर भी वे मुक्तिको प्राप्त नहीं कर सकते। वैसे तो मनुष्य शरीर बड़े भाग्यसे मिलता है। इसे बनाकर भगवान् भी प्रसन्न हुए।"

राजाने पूछा—भगवन्! मनुष्य शरीरको रचकर भगवान् क्यों प्रसन्न हुए ?"

अवधूतमुनि बोले—"राजन्! श्रुतियोंमे ऐसा वर्णन है, कि सृष्टिके आदिमें भगवान्ने विविध शरीरोंकी रचनाकी। पहिले उन्होंने वृक्षोंकी रचना की। जीवकी उससे तुष्टि नहीं हुई, न चल सकते हैं न बोल सकते हैं। इसलिये फिर टेढ़े मेढ़े सर्प आदिकी रचनाकी। किन्तु जीवको वह भी योनि अच्छी न लगेगी। सब लोग देखकर डर जायँ, नित्य क्रोधमें भरे रहे। फिर पशुओंकी रचनाकी। उनसे भी सन्तोप न हुआ, केवल आहार निद्रामें ही समय वितावें। घोड़ा, हाथी, गधा, ऊँट, गाय, भैंस कोई भी योनि सुन्दर नहीं लगी। डाँस, मछली, मगर, कछुआ, सूंस

सब प्रकारकी योनियोंको लाये। फिर भूत, प्रेत, पिशाच, गुह्यक, राक्षस, गंधर्व, विद्याधर, किन्नर, किंपुरुष तथा अन्यान्य देव योनियोंको रचकर भी उन्हें शान्ति न हुई। जब मनुष्यका आकार बना और उसमें इन्द्रियाँ, बुद्धि, विचार विवेक ये सब हो गये, तो सब कहने लगे—"सुकृतंवत' सुकृतंवत" यह शरीर तो बडा सुन्दर है, बडा सुन्दर है। सब नित्यदेव भगवान् ब्रह्माकी प्रशसा करने लगे।"

राजाने पूछा—"ब्रह्मन्! मनुष्य देहमें ऐसी क्या विशेपता है?"

अवधूतमुनि बोले—"राजन्! इसमे यही विशेपता है कि इस शरीरसे ब्रह्मदर्शन हो सकता है। मुक्तिका साधन सम्पन्न हो सकता है। इसीलिये मनुष्यका दूसरा नाम 'साधक' भी है। परमार्थका सुन्दर साधना मनुष्य, शरीरसे ही की जा सकती है। इसीलिये यह मनुष्य शरीर सब शरीरोंसे श्रेष्ठ समझा गया है।"

राजाने कहा—"भगवन्! इस मनुष्य शरीरकी आप इतनी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं, यह तो अनित्य है, क्षणभंगुर है नाशवान् है। अभी है क्षण भरमें नष्ट हो जाता है। पानीके बबूलेके सदृश इस देहको आप इतना महत्व क्यों दे रहे है।"

अवधूतमुनि बोले—"राजन्! मैं शरीरको महत्व नहीं दे रहा हूँ। निश्चय यह शरीर अनित्य है, फिर भी इससे साधन होता है, परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है, इसलिये इसकी प्रशंसा कर रहा हूँ। इसकी उपयोगिताकी सराहना कर रहा हूँ। जो पुरुष अनेक जन्मोंके उपरान्त इस दुर्लभ मनुष्य तनको पाकर भी इसका सदुपयोग नहीं करता, वह मूर्ख है बुद्धिहीन है। अब बुद्धिमान पुरुषोंको चाहिये कि जब तक यह शरीरका अन्त न हो, जब तक यह जर्जर होकर मृत्युके चंगुलमे न फँस जाय,

तभी तक इससे निःश्रेयसकी प्राप्ति करा ले। मोक्षके साधनमें लगा ले। इस सुवर्ण जैसे सुन्दर शरीरको पाकर विषयोंके संग्रहमे ही न लगा रहे। आहार निद्रा आदि इन्द्रिय सुख तो सभी योनियोंमे समान रूपसे प्राप्त हो सकते हैं। मोक्षकी प्राप्ति मानव शरीरसे ही संभव है। अतः मनुष्य शरीर पाकर इस अमूल्य अवसरको विषयोंके संग्रहमे ही व्यर्थ न बितावे।"

अवधूतमुनि कह रहे हैं—"राजन् इस प्रकार इन मैं सभी गुरुओंसे शिक्षा प्राप्त करके हृदयमें वैराग्ययुक्त ज्ञानालोकको जलाकर बिना भयके अहङ्कार-शून्य होकर समस्त भूमण्डलपर स्वच्छन्द होकर विचरता रहता हूँ। न मुझे शोक मोह है न किसी बातकी चिन्ता, इन सब कार्योंको खेल समझकर न मुझे विस्मय होता है न शोक।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो। राजा यदुसे इतना कहकर अवधूत दत्तात्रेय चुप हो गये।"

छप्पय

हरिने नाना योनि रचीं परि तोष न पायो।
सुखी भये लखि मनुज मोक्षको द्वार बतायो॥
पाइ मनुजको जनम जनमको अंत न कीयो।
विषयनि फसि मरि गयो अमृत तजिकें विष पीयो॥
सब योनिनि महँ विषय सुख, मिलैं करै क्यों श्रम अरे।
छनिक दुखद सुख तजि सरस, नित्य सुखहिँ भजि बावरे॥

—:o:—

अवधूत गीताकी समाप्ति

(१२४७)

न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात्सुपुष्कलम् ।
ब्रह्मैतदद्वितीयं हि गीयते बहुधर्षिभिः ॥*

(श्रीभा० ११स्क० ९अ० ३१श्लो०)

छप्पय

नहिँ सीमित मम ज्ञान लैहुँ जो होहि सबनि पै ।
सब तैं लै उपदेश फिरूँ निःसंग अवनि पै ॥
ब्रह्म एक ही मुनिनि निरूपन बहु विधि कीयो ।
जातैं जो मिलि गयो ज्ञान ग्याई तैं लीयो ॥
कहैं कृष्ण-उद्धव ! सुनो यों कहिकैं अवधूत मुनि ।
पूजित ह्वै नृप तैं गये, भये मुदित यदु ज्ञान सुनि ॥

यह संसार ज्ञानका भंडार है। मनुष्यकी बुद्धि सूक्ष्म हो, उसमें सद् असद्के विवेक करनेकी क्षमता हो, तो फिर पुस्तकोंके पढ़नेकी कोई आवश्यकता नहीं। संसारका अणु परमाणु हमें शिक्षा दे रहा है। इसके विपरीत जिनकी बुद्धि मलिन है, विषयों

*अवधूतमुनि दत्तात्रेय राजा यदुसे कह रहे हैं—"राजन् ! एक ही गुरुसे सुस्थिर और सुपुष्कल ज्ञान नहीं होता। ब्रह्म तो एक ही है न ? किन्तु उसका विचार ऋषियोंने विविध भाँतिसे किया है।"

मे फँसी हुई है, उन्हें चाहे कितने भी शास्त्र क्यों न पढ़ा दो वे मूखके मूर्ख ही बने रहेंगे। जिनका ज्ञान सीमित है, जो कूप-मंडूक बने हुए हैं उनकी बुद्धि संकुचित हो जाती है। वे एक क्षुद्र परिधिसे बाहरकी बात सोच ही नहीं सकते। उन्हें सुदृढ़ और यथेष्ट ज्ञान हो ही नहीं सकता।

यह संसार खुला हुआ शास्त्र है, इसकी प्रत्येक घटना हमें उपदेश दे रही है। संसारके सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं, क्षण क्षणमे बदल रहे हैं। इनकी अनित्यताको जो हृदयसे अनुभव करेगा, वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्द को प्राप्त कर सकेगा।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब अवधूत दत्तात्रेयने अपने चौबोस पृथिवी आदि गुरुओंसे तथा पचीसवें शरीरसे ली हुई शिक्षाका वर्णन किया, तो राजाने पूछा—"ब्रह्मन्! आपने इतने गुरु क्यों किये? एक ही गुरुसे आपने शिक्षा-दीक्षा क्यो नहीं ले ली?"

अवधूतमुनि बोले—"राजन्! शिक्षा दीक्षा दो पृथक् पृथक् वस्तुएँ हैं। दीक्षा तो एक ही गुरुसे ली जाती है, किन्तु शिक्षा गुरु अनेक होते हैं। ज्ञान तो निःसीम है, वह सबसे लिया जा सकता है। गुरुसे जो ज्ञान प्राप्त हो उसे स्वयं विचारे, मनन करे, उसे व्यवहारमें लावे। यह नहीं कि इस कानसे सुना उस कानसे निकाल दिया। बात एक ही है, उसे कोई किसी रूपसे समझाता है कोई किसी रूपसे। सभी जानते हैं सभी मानते हैं कि भगवान् एक हैं अद्वय हैं, किन्तु एकको ही मुनियोंने कितनी भाँतिसे समझाया है। नाना भाँतिके वाद उन एक ब्रह्मको ही लेकर तो खड़े हुए हैं। कोई कहते हैं,वे अद्वैत हैं, दूसरे कहते हैं–है तो अद्वैत किन्तु विशिष्टके साथ अद्वैत हैं। कोई कहते हैं शुद्ध-अद्वैत हैं; कोई कहते हैं द्वैत भी हैं अद्वैत भी हैं; कोई कहते हैं भेद अभेद अचिन्त्य हैं, न उन्हे द्वैत कह सकते हैं न अद्वैत। कोई कहते हैं

नहीं वे द्वैत ही हैं। कोई कहते हैं शून्य हैं, कोई कहते हैं नहीं हैं। कोई कहते हैं होंगे हमे उनकी आवश्यकता नहीं है। साराश यह है कि वे चाहे 'हैं' कहे या ना, कहते तो उन्हींके सम्बन्धमे हैं। आधारबिन्दु तो वे ही हैं। इसी प्रकार एक ही ज्ञानको भिन्न भिन्न घटनाओंसे सीखना चाहिये। मैंने जो पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधुमक्षिका, हाथी, मधुहारी, हरिण, मीन, वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुमारी, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी, भृङ्गी-कीट और देह इन सबसे जो शिक्षायें ली है, वे सब अधिकाश में एक ही हैं। बहुतोंकी पुनरावृत्ति हुई है। बहुतोंकी क्या सबसे यही ज्ञान तो लिया है, कि यह ससार अनित्य है, विषयजन्यसुख क्षणिक और परिणाममे दुखद है, अतः भूमापुरुषकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। ब्रह्मका ही निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये। इसी एक ज्ञानकी शिक्षा भिन्न भिन्न घटनाओंसे ली है। जैसे चीनीकी मिठाई बनानेवाले बच्चोंको आकर्षित करनेके लिये एक ही चीनीके भिन्न भिन्न प्रकारके खिलौने बनाते हैं, उनमे भिन्न भिन्न रङ्ग मिला देते हैं। उन सबमे है चीनी ही, खानेमे वे सबके सब एकसे ही मीठे हैं, केवल आकर्षणके लिये—उत्सुकता बढानेके लिये-भिन्नतासी कर दी है। इसलिये राजन्! आप भी संसारकी सभी घटनाओंसे शिक्षा लेकर मेरे समान निःशंक और निर्भय होकर विचरण कीजिये।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! यह, अवधूत गीताका उपदेश भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी यदुकुलका संहार करनेके पूर्व द्वारकामे उद्धवजीको कर रहे हैं। अवधूतगीता सुनानेके अनन्तर वे उद्धव-जीसे बोले—"उद्धव! इस प्रकार मुनि दत्तात्रेयने हमारे पूर्वज महाराज यदुको ज्ञानका उपदेश दिया था।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! फिर हमारे पूर्वज महाराज यदुने

भगवान् दत्तात्रेयसे क्या पूछा ?"

भगवान् बोले—"उद्धव ! अरे, भैया ! अब पूछनेकी कौनसी बात रह गयी। अब तो सभी बातें आ गयीं। महाराज यदुके सब संशय दूर हो गये, उन्होंने श्रद्धाभक्ति सहित अवधूतमुनि दत्तात्रेयकी सविधि पूजाकी। राजाकी पूजाको प्रेमपूर्वक ग्रहण करके वे गम्भीर बुद्धिवाले विप्रवर अवधूतजी उनसे विदा होकर प्रसन्न चित्तसे इच्छानुसार चले गये। दत्त भगवान्के उपदेशका हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज महाराज यदुपर बडा प्रभाव पडा। वे राज-पाट छोडकर सर्वथा निःसंग होकर समदर्शी बन गये।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! यह ससार मिथ्या है, इसमें सत्यका अंश भी नहीं। सत्य स्वरूप तो मैं ही हूँ। मेरा ही भजन करो। मेरा ही चिन्तन करो, इस प्रपञ्चसे सर्वथा मनको हटा लो।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो ! आपका कथन तो सत्य ही है, किन्तु मुझे जाग्रतमें और स्वप्नमें सदा दिखायी देनेवाला यह संसार मिथ्या दिखायी देता नहीं। यह मिथ्या कैसे दिखायी दे और सर्वत्र आपको ही देखूँ, इसका उपाय कृपा करके बताइये।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, उद्धवजी ! अब मैं तुम्हें ससारका मिथ्यात्व ही समझाता हूँ, तुम इसे श्रद्धासहित श्रवण करो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! यह कहकर भगवान्ने वि-

स्तारके साथ उद्धवजीसे संसारका मिथ्यात्व बताया। इस कथा प्रसङ्गमें उस ज्ञान चर्चाको छोड़ दूँ, तो कथाका प्रवाह रुक जायगा, अतः केवल कथा प्रसंग जोड़नेको अत्यंत संक्षेपमें मैं इसका उल्लेखमात्र किये देता हूँ, फिर किसी अन्य स्थलपर इसका विस्तारसे विवेचन किया जा सकता है।"

छप्पय

उद्धव! निज निज धरम पालि पावैं सुख प्रानी।
आश्रम, कुल अरु वरन धरम कूँ त्यागहिँ ज्ञानी॥
भक्त शौच सतोष आदि नियमनि कूँ पालहिँ।
गुरु कूँ पूजहि सदा साधना सत सब साधहिँ॥
है मिथ्या संसार सब, सत्य समुझि नर दुख सहैं।
मानूँ काल, स्वभाव सब, वेद, जीव, धरमहु कहैं॥

—※—

सार सिद्धान्त

(१२४८)

यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्
वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥*

(श्रीभा० ११स्क० ११अ० २०श्लो०)

छप्पय

उद्धव बोले बद्ध मुक्त अरु भक्तनि लच्छन।
कहें प्रभो! सरवेश सुनत हरि बोले ततछिन॥
गुनतें ही है बद्ध मोच्छ माया मूलक गुन।
विद्या तें है मोच्छ अविद्या तें जगबन्धन॥
जीव ईश पच्छी सखा, तनु तरु पै बैठे उभय।
फल खावे सो भय लहै, निराहार नित ही अभय॥

समस्त वेद शास्त्र घुमा फिराकर एक ही बात कहते हैं, संसार के चिन्तनसे संसारकी प्राप्ति होती है, ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"हे अङ्ग! जिस वाणीसे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, गति तथा प्रलयरूप मेरे पावन कर्मोंका तथा लीला अवतारोंमें अपनी ही इच्छासे लिये हुए मेरे जन्मोंका वर्णन न हो उस वन्ध्या वाणीका धीर वीर पुरुष कभी भी धारण तथा पोषण न करे।"

सथा हरिके चिन्तनसे उन्हींकी प्राप्ति होती है, जो जिसका चिन्तन करेगा वह उसीका रूप हो जायगा। अतः असत् नाशवान् ससारका चिन्तन छोडकर सच्चिदानन्द स्वरूप सर्वेश्वरका ही सदा चिन्तन करो।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान्ने उद्धवजीको अवधूतगीताका उपदेश कर दिया, तब उद्धवजीने पूछा—"प्रभो! संसार मे मनुष्यका कर्तव्य क्या है ?"

भगवान् बोले—"अपने अपने वर्ण आश्रम तथा कुलागत आचारोका निष्कामभावसे आचरण करना यही सबका मुख्य कर्तव्य है।"

उद्धवने पूछा—"इससे क्या होगा ?"

भगवान्—"स्वधर्मका निष्कामभावसे पालन करनेसे आत्म शुद्धि होगी, अन्तःकरण पवित्र होगा। पवित्र अन्तःकरणसे ही ब्रह्म साक्षात्कार होता है। जब पूर्ण ज्ञान हो जाय तब विधि निषेधका विशेष आदर न करे।"

उद्धव—'प्रभो! भक्तका भी कर्तव्य बतावें।"

भगवान्—"भक्तको सदा अहिंसा, सत्य आदि यमोका, शौच सन्तोष आदि नियमोका यथाशक्ति पालन करना चाहिये। गुरुमे ईश्वरबुद्धि रखनी चाहिये, सद्गुणोको धारण करना चाहिये, परनिन्दासे सदा बचे रहना चाहिये, घर द्वार कुटुम्ब परिवारमे ममता न करनी चाहिये। शरीरसे विलक्षण उसके साक्षी आत्माको अनुभव करना चाहिये।"

उद्धवजीने पूछा—"आत्मा शरीरसे पृथक् कैसे है ?"

भगवान् बोले—"ईंधनमे अग्नि प्रवेश हो गई तो जली लकडी को सब अग्नि कहते हैं। वास्तमें जो दहक रही है वह अग्नि है ईंधन तो अग्नि नहीं है। ईंधनको जलाकर अग्नि अपने समष्टि

रूपमें मिल जाती है। लोग कहते हैं अग्नि बुत गई, अग्नि तो उस लकड़ीसे सर्वथा पृथक् है। इसी प्रकार स्वयं प्रकाश आत्मा स्थूल सूक्ष्म कारण तीनों शरीरोंसे अत्यंत भिन्न है। इस रहस्यको सद्गुरुसे समझे। आत्माके विषयमें भिन्न भिन्न मुनियोंके भिन्न भिन्न मत हैं। सबने एक ही आत्माका भिन्न भिन्न प्रकियासे निरूपण किया है। कोई कालको सत्य बताते है कोई जीवको; कोई स्वभाववादी है तो कोई धर्म और वेदको ही निःश्रेयसका कारण बताते हैं। ये सब मेरे ही नाम हैं, जब तक गुणोंकी विषमता है तभी तक नानात्व है। जब तक नानात्व है तभी तक भय है, पराधीनता है। इसलिये तीनो गुणोंसे ऊपर उठकर त्रिगुणातीत होना चाहिये। तब समस्त शोक मोह दूर हो जायँगे और मेरा यथार्थ ज्ञान हो जायगा।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! प्राणी जो पुण्य पाप रूप कर्म करता है तथा उनके सुख दुख रूप फल भोगता है इनसे कोई कैसे बच सकता है। क्योंकि बिना कर्म किये तो कोई रह नहीं सकता। कर्म या तो शुभ होंगे या अशुभ उनका फल भोगना ही पड़ेगा। जीव गुणोंमें बद्ध है तो उसे बन्धनमें पड़ना ही होगा। यदि वह गुणोंसे पृथक् है तो फिर वह बँध क्यों जाता है? फिर शास्त्रोंमें जो मोक्षके उपाय बताये हैं, वे व्यर्थ हैं। जब बन्धन है ही नहीं तो मुक्तिका प्रयत्न व्यर्थ है।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"उद्धव! सबका आत्मा तो मैं ही हूँ। मुझमें बन्धन है ही नहीं। जब बन्ध ही नहीं तो मोक्षका प्रश्न ही नहीं। केवल गुणोंके संसर्गसे ही आत्मा को बद्ध, मुक्त कहा जाता है। वास्तवमें न बन्धन है न मुक्ति। गुण मायामूलक हैं। संसारकी प्रतीति स्वप्नके सदृश हैं। जैसे स्वप्नमें जो भी पदार्थ दिखायी देते हैं, वे वास्तवमें असत् हैं, किन्तु जब तक स्वप्न है तब तक वे सत्यके समान स्वप्नमें सुख दुख देते

हैं। जागनेपर न वे पदार्थ दीखते हैं न उनसे होनेवाला सुख दुख। स्वप्नावस्थासे उठे हुए व्यक्तिके सदृश विद्वान पुरुष देहमें रहता हुआ भी वह देहाभिमानसे शून्य होनेके कारण देहसे अपनेको पृथक् अनुभव करता है। देहमें होनेवाले सुख दुखोंको वह स्वप्नके समान मिथ्या समझता है। अज्ञानी पुरुष स्वप्नमें शय्यापर पड़े व्यक्तिके समान संसारी पदार्थोंसे अपना कोई सम्बन्ध न होनेपर भी स्वप्नमें देखे मिथ्या पदार्थोंसे नाना आपत्तियोंको अनुभव करता है। इसीलिये विद्वान ज्ञानी खाता है, पीता है, उठता है, बैठता है, हँसता है, खेलता है, लिखता है, पढ़ता है, लोगोंको नमस्कार करता है, सब व्यवहार करता है, फिर भी अपनेको इन सबमें लिप्त नहीं मानता। कर्तापनेका उसे अभिमान नहीं होता। इन्हीं कार्मोंको अज्ञानी करता है, यह अहङ्कार के कारण फँस जाता है। अज्ञानी पुरुष ही इस दैवाधीन शरीरके द्वारा गुणोंकी प्रेरणासे जो ये सब कर्म स्वतः ही हो रहे हैं उनमें कर्तापनेका अभिमान करके बँध जाता है। पहाड़पर कितने आमके पेड़ अपने आप जमते हैं अपने आप उनमें फल लगते हैं, जो चाहता है खाता है। बन्दर चिड़िया जिसकी इच्छा होती है खा लेते हैं, हम भी जाते हैं खा लेते हैं, कोई बात नहीं। वही गुठली हमारे घरमें जमकर पेड़ हो जाय। उसे हम अपना लगाया आम समझते हैं, उसमें अपनेपनका अभिमान स्थापित कर लेते हैं। अब कोई कच्चे फल तोड़ता है तो दुख होता है। रात्रि रात्रिभर जागकर बन्दरोंको चिमगादड़ोंको भगाते हैं। दूसरा कोई चोरी कर फल तोड़ ले जाता है दुख पाते हैं। पके फलोंको बेचकर पैसा पाकर प्रसन्न होते हैं। दूसरोंके बच्चोंके खानेपर सुख नहीं होता। अपने बच्चे खाते हैं सुखी होते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो जैसे गुठली गुणोंकी प्रेरणासे स्वयं पहाड़पर जमी थी वैसे ही घरमें जमी। जैसे वहाँ स्वभावसे उसपर फल लगे वैसे ही यहाँ लगे।

हमें जो यहाँके फलोंको चुरानेसे दुख हुआ वह कर्तापनेके कारण हुआ। ज्ञानीमें यही विशेषता है, कि वह सब काम करतापनके अभिमानसे रहित होकर करता है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! हमें ज्ञानीकी पहिचान बता दीजिये। कैसे समझें कि यह ज्ञानी है? वह क्या ग्रहण करता है, क्या त्यागता है, कैसा उठता बैठता और चलता है?"

भगवान बोले—"ज्ञानी कार्य तो साधारण पुरुषोंके ही सदृश करता है, किन्तु उसकी वृत्ति सुखमें, दुखमें, मानमें, अपमानमें, जयमें, पराजयमें, हानिमें, लाभमें, जीवनमें, मरणमें, यशमें, अपयशमें, निन्दामें, स्तुतिमें तथा सभी दशाओंमें समान होती है। चाहे हिंसक लोग उसके शरीरको काट दें या प्रारब्धवश पूजन आदि करें उसके लिये दोनों बराबर हैं। उसके प्राण, मन इन्द्रिय तथा बुद्धिकी समस्त चेष्टायें सङ्कल्प शून्य होती हैं। इसलिये तुम अपनी चित्तकी वृत्तिको मुझमें लगाओ। मेरे भक्त हो जाने पर तुम्हें सब स्थितियाँ स्वत ही प्राप्त हो जायँगी।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! आपकी भक्ति कैसे प्राप्त हो?"

भगवान्ने कहा—"मेरी भक्ति प्राप्त करनेके तीन उपाय हैं?

उद्धवजीने कहा—"महाराज! उन तीनोंको मुझे विस्तारसे समझाइय।"

भगवान्ने कहा—"देखो, भैया! विस्तारसे समझानेके लिये समय नहीं है। मुझे सबको लेकर आज ही प्रभास जाना है। सक्षेपमें मैं तुम्हें समझाता हूँ।

मेरी भक्ति प्राप्त करनेका सर्वप्रथम उपाय तो यह है कि साधु पुरुषोंके समीप जाकर मेरी भागवती कथाओंको श्रद्धा सहित श्रवण करे। मेरी कथा सुनते सुनते मेरे तथा मेरे भक्तोंके चरित्रोंमें अनुराग होने लगेगा। इसलिये भक्ति प्राप्त करनेवालेका प्रथम कर्तव्य है कि वह नित्य नियमसे समस्त लोकोंको पावन करनेवाली

मेरी कथाओं में मन लगावे।

दूसरा उपाय है मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंका गान करना। मेरे सुमधुर परम निर्मल नामोंका ताल स्वरसे कीर्तन करे, मेरे जितने अवतार हैं उनके चरित्रोंको गावे। लिखकर प्रचार करे। जो दूसरे लोग गाते हों उनका अनुमोदन करे। मेरे नामोंका, गुणोंका, रूपका स्मरण करे। मेरे चरित्रोंका नाटक खेले, अभिनय करे, लीला करे, करावे। वारम्वार मेरी चेष्टाओंका अनुकरण करे।

तीसरा उपाय यह है कि जो भी धर्म करे, अर्थोपार्जन करे, कामका आचरण करे वह सब मेरे आश्रित रहकर मेरी ही प्रसन्नताके निमित्त करे। इन उपायोंसे मुझ सच्चिदानन्द सनातन सर्वेश्वर सर्वाधार सर्व नियन्ता परमात्मामें अविचल भक्ति प्राप्त हो सकती है। मेरी भक्ति पानेका मुख्य उपाय है सत्सङ्ग। सत्संग में जाते जाते, साधु संतोंका समागम करते करते अन्तःकरण शुद्ध होता है, उसमें भक्तिका वीज वपन होता है और साधक मेरा अनन्य उपासक बन जाता है। फिर उसे परमपदकी प्राप्तिमें किसी प्रकारका श्रम नहीं, आयास नहीं, कठिनता नहीं, वह सुगमतासे मेरा पद प्राप्त कर सकता है। साधु सङ्ग ही मुक्तिका द्वार है।"

यह सुनकर उद्धवजीने पूछा—"प्रभो! संसारमें आप ही परम कीर्तिशाली सर्वश्रेष्ठ हैं। कृपा करके यह बताइये कि साधु किसे कहते हैं? कौनसे लक्षणोंको देखकर हम यह जानें कि साधु हैं। कृपा करके मुझे अपने परम भक्तोंके कुछ लक्षण बता दें।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"अच्छी बात है उद्धव! अब मैं तुम्हें अपने भक्तोंका लक्षण बताता हूँ, इन इन लक्षणोंसे मेरे भक्त जाने जा सकते हैं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब भगवान्‌के श्रीमुखसे वर्णन किये भक्तोंके लक्षण आप श्रद्धा सहित श्रवण करें।"

छप्पय

कर्तापन तैं बँधे अकर्ता बँधे न कबहूँ।
ज्ञानी कूँ दुख देउ विकृत होवै नहिँ तबहूँ॥
ब्रह्म भावमहँ लीन परम अमृत नित चाखै।
इस्तुति निन्दा रहित बुरो अरु भलो न भाखै॥
कीर्तन नामनिको करै, भाखै मेरे गुन करम।
भक्ति करै मोमें सतत, पाइ उपासक पद परम॥

—::ॐ::—

परम भगवद्भक्तोंके लक्षण

(१२४९)

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥*
(श्रीमा० ११स्क० ११अ० २३श्लो०)

छप्पय

पावन मेरी कथा सुनै गावै ध्यावै नित ।
लीला अभिनय करै लगावै मम चरननि चित ॥
धरम करम अरु काम करै है मेरे आश्रित ।
पावै निश्चल भक्ति कटै जगकी यह ससृत ॥
साधुनिके सतसङ्ग तैं, भक्ति मुक्ति पावै सबहिँ ।
पुण्य पुरातन उदय जब, होवैं साधु मिलैं तबहिँ ॥

ससारमें सब कुछ सुलभ है। धनी एकसे एक पडे हैं। बलवानोकी कमी नहीं। ऐसे ऐसे बलवान पडे हैं, जो सिंहोंको पकडकर बीचसे फाड सकते हैं, मदोन्मत्त हाथियोंसे लड सकते हैं, पहाडोंको जड मूलसे उखाड सकते हैं। ऐसे ऐसे विद्वान पडे हैं जो

*श्रीभगवान् उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव ! मैं जितना हूँ, जैसा हूँ, इस बातको जानकर अथवा बिना जाने ही जो मेरा अनन्य भावसे भजन करता है, मेरी दृष्टिमें तो वही परम भक्त है।"

असंभवको संभव सिद्ध कर सकते हैं, संभवको असंभव बना सकते हैं। ऐसे ऐसे दानी पड़े हैं जो अपने बच्चोंको स्त्रियोंको धनको तथा अपने शरीरको दान कर सकते हैं। तेजस्वी, तपस्वी, यशस्वी सभी सुलभ हैं, किन्तु साधुओंका मिलना दुर्लभ है। सच्चे साधु सर्वत्र प्राप्त नहीं होते।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब उद्धवजीने भगवान्से साधुओंके लक्षण पूछे, तब भगवान् कहने लगे—"उद्धव! साधुओंमें अनन्त गुण होते हैं, उनके गुणोंकी गणना कोई कर नहीं सकता। सुमेरुके कण गिने जा सकते हैं, किन्तु साधुओंके गुण गिनने असंभव हैं। फिर भी मैं कुछ थोड़ेसे गुणोंका वर्णन करता हूँ। जिनमें ये २८ गुण हों उन्हें तुम बिना सन्देहके साधु समझ लेना।"

उद्धवजीने कहा—"हाँ महाराज! कुछ ही गुण बताइये। उन २८ गुणोंको मुझे समझाइये।"

भगवान् बोले—"मैं इन अट्ठाइसोंकी व्याख्या करने लगूँ तो बहुत विस्तार हो जायगा, अतः संक्षेपमें इनका उल्लेख किये देता हूँ।

(१)कृपालु—साधु बड़े कृपालु होते हैं। माता-पिता जैसे अपने पुत्रोंपर, सम्बन्धी अपने सम्बन्धियोंपर जैसे कृपा रखते हैं, वैसे सज्जन पुरुष प्राणिमात्रपर कृपा करते हैं। यह नहीं कि वे कुछ पर कृपा करें, कुछ पर कृपा न करें, उनकी कृपाका सत्र सबके लिये सर्वदा खुला रहता है। इसीलिये वे अकृतद्रोह होते हैं।

(२)अकृत द्रोह—साधु किसीसे वैर-भाव नहीं रखते। वैर-भाव होता है स्वार्थसे। हम एक वस्तुको ग्रहण करना चाहते हैं, दूसरा भी उसे चाहता है, हम उसे देना नहीं चाहते इसीलिये परस्परमें द्रोह हो जाता है। साधु किसी वस्तुकी इच्छा ही नहीं रखते। वे अपनी वस्तु कुछ समझते ही नहीं, फिर द्रोह होने ही क्यों लगा?

(३) क्षमाशील—साधुओंमें क्षमा बहुत होती है। यह मनुष्य का सहज स्वभाव है कि जो हमारा अपकार करता है उसके अपकार करनेकी भावना अपने मनमें स्वाभाविक ही उठती है। जो हमारे प्रति हिंसाके भाव रखता है, उसके प्रति प्रतिहिंसा उदय हो ही जाती है। साधुओंमें यह बात नहीं होती। वे चन्दनके समान होते हैं। उसे जितना ही घिसो उतना ही वह सुगन्धित होगा, अग्निमें जला दो तब भी अपनी सुगन्धि फैलावेगा, कुल्हाड़ीसे काटो तो उसके मुखको भी सुगन्धित कर देगा। साधु ईखके समान होते हैं, ईखको जितना दवाओ उतना ही रस देती है। इसी प्रकार साधु अपकारीका भी मुख मीठा कर देते हैं, उसे भी रस देते हैं। साधु वृक्षके समान होते हैं। काटनेवालेको भी छाया देते हैं, ढेला मारनेवालेको भी फल देते हैं और काटनेवालेके भी भोजनको सिद्धकर देते हैं। साधु मिहदीके समान होते हैं। पीसनेवालोंके भी हाथको लालकर देते हैं। वे किसीका अपकार करना तो जानते ही नहीं।

(४) सत्यशील—साधुओंका स्वभाव ही सत्य बोलनेका होता है, वे कभी असत्य भाषण करते ही नहीं। जैसा देखेंगे, सुनेंगे, अनुभव करेंगे उसे ही कहेंगे, उनके मनमें छलकपट नहीं होता, वे बातको छिपाना नहीं जानते। जो सत्य बात होगी, भोले बालककी भाँति सबसे कह देंगे।

(५) शुद्धचित्त—साधुओंका चित्त विशुद्ध होता है, वे बनावटी बातोंको हृदयमें रख नहीं सकते। तनिकसी बुराई हृदयमें आ जायगी तो वे घबरा जायँगे। उपासना करते करते उनका चित्त शुद्ध हो जाता है। उनमें मलिनताकी गन्ध भी अवशिष्ट नहीं रहती।

(६) समदर्शी—मनुष्यका स्वभाव होता है कि जिसमें अपनापन होता है, उसके लाभका विशेष ध्यान रखा जाता है। जैसे हमें

कोई कुछ वस्तु बाँटनेको दे तो जिसमें हमारा अपनापन होगा, उन्हींको हम देंगे। दूसरोंको देनेको विवश ही होंगे, तो जो सबसे बुरी, सड़ी गली वस्तु होगी वह उन्हे देंगे। साधुओंमें यह बात नहीं होती। उनके लिये सभी समान हैं वे छोटे बडे धनी निर्धनका भेद-भाव नहीं करते। सभीके कल्याणकी कामना करते हैं।

(७) सर्वोपकारत्व—साधुओंके समस्त काम सबके उपकारके ही निमित्त होते हैं। जैसे गृहस्थी लोग घर बनवावेंगे तो पहिले ही निर्णयकर लेंगे—इसमें मेरा लडका रहेगा, इसमे मेरी लडकी रहेगी, इसमे बहू रहेगी। किन्तु साधु जो भवन बनावेंगे सबके लिये बनावेंगे। गृहस्थी बाग बगीचा लगावेंगे तो अपने लिये। साधुओंके बाग बगीचे भगवान्‌की सेवा पूजाके लिये सबके उपकारके लिये होंगे। उससे सुख सुविधा उठानेका अधिकार सभी को प्राप्त होगा। वे तो अपनेको उसकी देख-देख करनेवाले मानेंगे। उनके समस्त काम परोपकारकी भावनासे ही होंगे।

(८) कामना रहित—यह देखा गया है कि मनमे जब कामवासना आकर घर कर लेती है, तब कामकी वासनाओंसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, फिर सद् असद्‌का विवेक नहीं रहता, लज्जा शील संकोच सभी नष्ट हो जाता है। किन्तु साधु पुरुष इसके अपवाद होते हैं। प्रथम तो उनके मनमें कामवासना उठती ही नहीं, यदि कभी उठ भी जाती है, तो उनकी बुद्धि कामसे मारी नहीं जाती, उनका विवेक सर्वथा नष्ट नहीं होता।

(९) संयमी—साधु पुरुषोंका जीवन संयत होता है। उनके सब काम संयमपूर्वक होते हैं। वे संयमके साथ रहते हैं, संयमके साथ प्रसाद पाते हैं, संयमके साथ बोलते हैं, संयमके साथ कार्य करते हैं, सयमके साथ सोते हैं। सारांश यह कि उनका कोई कार्य असंयत नहीं होता।

(१०) मृदुल स्वभाव—साधुओंका स्वभाव कठोर नहीं होता। पर-दुखको देखकर वे तुरन्त पिघल जाते हैं। उनका स्वभाव अत्यंत कोमल होता है। भगवत् कथाओंको, करुण प्रसङ्गोंको सुनकर उनका हृदय पिघलकर पानी बनकर नेत्रोंके मार्गसे निकलने लगता है। जिससे वे बातें करते हैं, उसे ऐसा लगता है मानों ये मेरे ऊपर अमृत उडेल रहे हैं। दूसरोंके दुखोंको देखकर वे द्र्याद्र हो जाते हैं और जो कुछ कर सकते हैं, करनेमें उठा नहीं रखते।

(११) सदाचारी—साधुओंका आचार सत् पुरुषोंके सदृश ही होता है। वे उत्तम आचारका सदा पालन करते हैं। दुराचारकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। परनारीको माताके समान समझते हैं, दूसरेके धनको मिट्टीके सदृश और सब प्राणियोंकी आत्माको अपनी आत्माके समान समझते हैं। वही साधु सदाचारी है।

(१२) अकिञ्चन—जिसके पास अपना कहानेवाला कुछ होता है अभिमान उसीको हुआ करता है। मेरे पास इतना धन है, मैं इतना विद्वान हूँ। इसलिये साधु पुरुष सभीको भगवद् अर्पणकर देते हैं। अपना सर्वस्व सर्वेश्वरको सौंपकर स्वय अकिञ्चन बन जाते हैं। कोपाध्यक्षके पास करोड़ों रुपये होते हैं, किन्तु वह स्वप्नमें भी उन्हें अपना नहीं समझता। जो वेतन उसे स्वामीके यहाँसे निर्वाहके लिये मिलता है, उसीसे अपना निर्वाह करता है। जब उसका चित्त चचल हो जाता है, स्वामीके धनको अपना समझता है तभी वह अपने पदसे च्युत हो जाता है, पकड़ा जाता है और कारावासके क्लेशोंको भोगता है अथवा यमराजके यहाँ यातनायें पाता है। इसीलिये साधु अपना कुछ रखते नहीं। सब भगवानको अर्पण करके स्वय निष्किञ्चन बन जाते हैं।

(१३) निःस्पृह—इच्छासे ही दीनता आती है। हम दूसरोंके सम्मुख क्यों दीन होते हैं क्यों झुकते हैं, इसलिये कि उनसे कुछ चाहते हैं। किसी धनिकको देखते ही हमारी इच्छा होती है कि यह हमें कुछ दे, इसलिये उसके सम्मुख दीन हो जाते हैं। झूठी सची बातें बनाकर उसे प्रसन्न करना चाहते हैं। उसके सम्मुख विश्वम्भरकी महत्ताको भूल जाते हैं। यह नहीं सोचते कि इसके समीप तो लक्ष्मीजीकी इतनी भी विभूति नहीं है जितनी अगाध समुद्रकी एक विन्दु। जो स्वय साक्षात् लक्ष्मीपति हैं उनकी शरणमें मैं क्यों न जाऊँ। उनके सम्मुख दीनता प्रकट क्यों न करूँ। जिसका भगवान् पर विश्वास होता है, फिर वह संसारके बडेसे बडे चक्रवर्तीमें और छोटेसे छोटे तृणमें कुछ भी अन्तर नहीं समझता। सबसे निस्पृह होकर निरन्तर नारायणका ही स्मरण करता है। उन्हींकी शरणमें जाता है।

(१४) मिताहारी—जिनकी जिह्वा वशमें नहीं है, वे खाते ही रहते हैं। सुन्दर, स्वादिष्ट, चटपटी, नमकीन, मीठी वस्तुएँ आ गयीं, स्वाद ही स्वादमें अधिक खा गये। अब न तो बैठा जाता है न आसन बाँधा जाता है, लेटे ही रहते हैं। उदर व्याधियाँ हो जाती हैं। बार बार शौच जाना पडता है। निरन्तर पेटकी ही चिन्ता लगी रहती है। चित्त रोगमय बन जाता है। जीवनका आहार पर बडा प्रभाव पडता है, इसलिये साधु पुरुष सदा मिताहारी होते हैं। उनके भोजन प्रसादका समय नियत रहता है, परिणाम नियत रहता है, बनानेका ढँग सदाचार नियत रहता है। वे सयमसे परिमाणानुसार ही खाते हैं। वे भोजन करनेके लिये जीवन धारण नहीं करते, किंतु तो केवल जीवन-धारणके निमित्त मितमेध्य भोजन करते हैं।

(१५) शान्त चित्त—जिसके मनमें नाना कामनायें भरी रहती है, उसका चित्त कभी शान्त न होगा। जाग्रतमें तो नाना विषयोंकी

चिन्ताओंमें उद्विग्न बना रहेगा और सोते समय स्वप्नमें भी इन्हीं बातोंको देखते देखते दुखी और चिन्तित होगा। साधुका चित्त इन नाशवान् घटनाओंसे कभी भी उद्विग्न नहीं होता। वह अगाध समुद्रके समान सर्वथा शान्त बना रहता है।

(१६) स्थिर बुद्धि—जिनका लक्ष्य स्थिर नहीं होता उनकी बुद्धि भी स्थिर नहीं होती। अभी इस कामको कर रहे हैं, फिर सोचा इससे लाभ हो न हो दूसरेको करने लगे। आज एक साधन कर रहे हैं, कल दूसरा करने लगे। आज एकपर श्रद्धाकी कल उससे घृणा करने लगे। साधुओंकी बुद्धि स्थिर होती है, वे एक ही साधनको दृढ़ताके साथ करते हैं। उसीमें अपनी बुद्धिको स्थिर करते हैं।

(१७) शरणापन्न—साधु मेरा शरणागत होता है। वह बड़ेसे बड़े व्यक्तिकी शरण नहीं जाता। संसारसे मुख मोड़कर मुझ माधवको ही वह सब कुछ समझकर मेरी ही शरणमें आता है। मेरी शरण आनेपर उसके समस्त शोक मोह दूर हो जाते हैं, क्योंकि जो मेरी शरण हो गया, उसके किये कर्तव्य ही क्या शेष रह गया।

(१८) मुनि—साधारण लोग निरन्तर व्यवहारकी ही बातोंका मनन करते रहते हैं। जैसे गाय भैंस आदि पशु पहिले तो जो तृण आदि चारा सम्मुख आ जाता है उसे खा जाते हैं, फिर एकान्तमें बैठकर उसी खाये हुये को फिर खाते हैं, जुगार करते रहते हैं। इसी प्रकार संसारी लोग दिन भर तो कृषि, व्यापार, आदि कर्म करते रहते हैं। एकान्तमें जब बैठते हैं तो उनके मस्तिष्कमें वे ही बातें घूमती रहती हैं। कभी भजन करने बैठेंगे तो हाथमें माला फिरती रहेगी, मन हिसाब जोड़ता रहेगा। जो हिसाब दिनमें व्यापार करते समय नहीं जुड़ता, वह एकान्तमें भजन करते समय तुरन्त जुड़ जाता है। जो

जिस कार्यको करता है वह चलते, फिरते, उठते बैठने उसीका चिंतन मनन करता रहता है। इसी प्रकार साधु निरन्तर आत्म-तत्वका मनन किया करता है। वह बाहरसे कुछ भी कार्य क्यों न कर रहा हो भीतर उसका मन मदनमोहनकी माधुरीमें ही निमग्न रहता है। मननशील होनेसे ही साधुकी मुनि संज्ञा है।

(१९) प्रमाद रहित—मृत्यु सदा प्रमादसे होती है। काल सदा अप्रमत्त रहता है। यह जीव विषयोंमें फँसा रहनेसे प्रमादी बन जाता है। यह अपने लक्ष्यको भूलकर संसारमें भटकता रहता है। साधु प्रमाद-शून्य होकर प्रभु चिन्तनमें ही समय बिताता है। इसलिये मृत्यु भी उससे डरता है। मृत्युके सिरपर भी पैर रखकर वह हरिके पदको प्राप्त हो जाता है। इसलिये साधुके समीप प्रमाद फटकने भी नहीं पाता। वह निरन्तर प्रमाद रहित बना रहता है।

(२०) गम्भीरात्मा—साधु बड़े गम्भीर स्वभावका होता है। उसमें कितना तेज तप है, कितने गुण हैं, इसकी थाह कोई ले नहीं सकता। अपनी प्रशंसा वह अपने मुख कभी नहीं करता। जो अपने त्यागकी, तपकी, सदाचारकी अपने ही मुखसे प्रशंसा करते रहते हैं, वे क्षुद्र हैं, छिछोरे हैं, उनकी थाह साधारण लोग भी पा लेते हैं। गङ्गा आदिमें जहाँ थोड़ा जल होता है वहाँ बड़े वेगसे शब्द होता है। किन्तु जहाँ अगाध जल है वहाँ गम्भीरता आजाती है, वहाँ शब्द नहीं होता। प्रशान्त बना रहता है।

(२१) धैर्यवान्—मनुष्यका स्वभाव है कि विकारके हेतु सम्मुख उपस्थित हो जानेपर उसका चित्त चंचल हो ही जाता है। किन्तु साधुओंका स्वभाव ऐसा नहीं होता। सुन्दरसे सुन्दर रूप सम्मुख समुपस्थित हो उनके नेत्र चंचल न होंगे। स्वादिष्ट

से स्वादिष्ट भोजन सामग्री सम्मुख रखी हो उनकी जिह्वासे जल न निकलने लगेगा। सुन्दरसे सुन्दर संगीत युक्त शब्द सुनायी दे उनकी श्रवणेन्द्रियमें कोई विकार उत्पन्न न होगा। कोमलसे कोमल स्पर्श उनकी त्वचासे छू जाय उनके मनमे चंचलता न आवेगी, वे धीरताके साथ अपने स्वरूपमे अवस्थित रहेंगे।

(२२)षड्गुणजित—सभी अन्तःकरणोंमे निरन्तर लहरें उठती रहती हैं। उनमे छै प्रकारकी मुख्य हैं, जिन्हें षड्ऊर्मियाँ कहते हैं। भूख, प्यास शोक, मोह और जन्म-मरणकी चिन्ता साधु इन छओं पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, उन्हे ये ऊर्मियाँ क्लेश नहीं पहुँचाती।

(२३) अमानी—मनुष्य जहाँ भी जाता है अपना मान चाहता है। बडे बडे लोग इसी भयसे कहीं जाते नहीं, निकलते नहीं, किसीसे मिलते जुलते नहीं कि कहीं हमारा अपमान न हो जाय। सभामे जायँगे तो दश वार मनुष्य भेजकर प्रवन्ध करावेंगे, आसनकी व्यवस्था करावेंगे। जहाँ सम्मानकी संभावना न होगी, वहाँ जाकर भी लौट आवेंगे। सम्मानका एक ऐसा रोग है कि मनुष्य जान वूझकर अपनेको वन्दी बना लेता है। वह खुलकर किसीसे मिल नही सकता। स्वच्छन्द विचरण नहीं कर सकता। इच्छानुसार हस खेल नहीं सकता। सदा शंकित बना रहता है। साधु लोग मानको स्थान ही नहीं देते। वे बालकोंकी भाँति अमानी होकर इधरसे उधर फिरते रहते हैं। कोई दश गाली भी दे देता है, तो खिल खिलाकर हँस जाते हैं। गाली तो उनको लगती हैं जो उन्हे स्वीकार करें। साधु किसीकी गालीको स्वीकार ही नहीं करते। कोई आकर हमे विषका लड्डू दे। यदि हम उसे स्वीकार करके खा जायँ तभी मरेंगे। यदि उसे स्वीकार ही न

करें त सैकड़ों लड्डू रख जाओ हमारा कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकते। उनका कोई मान करे उसे भी स्वीकार नहीं करते, ऊँचे आसनपर किसीने ले जाकर बिठा दिया, वहीं बैठ गये। किसीने जूतोंके समीप बिठा दिया वहीं बैठ गये। इस प्रकार साधुओंका स्वभाव अमानी होता है।

(२४) मानद—साधु स्वयं तो अमानी होते हैं, किन्तु दूसरोंको सदा मान देते हैं। वे किसीका अपमान नहीं करते। अपमान करे किसका ? वे तो चराचर जगत्को अपने इष्टका रूप ही समझते हैं। वे जिसका भी अपमान करेंगे वह उनके इष्टका ही अपमान होगा। अतः वे सबका सम्मान करते हैं। सबका सम्मान करनेसे साधारण लोग उन्हें छोटा समझते हैं, किन्तु वास्तवमें सबका मान देनेवाला सबसे बड़ा है। जैसे कृपण पुरुष किसीको धन नहीं दे सकता, उसी प्रकार अभिमानी पुरुष किसीका हृदयसे आदर नहीं कर सकता। उदार पुरुष दरिद्रों को कंगलिओंको धन देते हैं तो वे माँगनेवाले-धन ग्रहण करने वाले—कंगले बड़े हुए या देनेवाला वह धनी दाता बड़ा हुआ। कहना होगा लेनेवालेसे देनेवाला बड़ा है। इसी प्रकार जो दूसरोंको मान देता है वह अपने ही मानको बढ़ाता है स्वयं ही सम्मानका पात्र बनता है। अतः साधु सबको मान देनेवाला होता है।

(२५) समर्थ—साधु अपनेको असहाय नहीं समझता। एक राजाका पुत्र है। यद्यपि वह बहुत छोटा है, किन्तु बलवान्से बलवान् प्रहरीको मंत्रीको वह आज्ञा देता है और सब उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते हैं। उसे विश्वास है मैं समर्थ पिताका पुत्र हूँ, मुझमें भी वही सामर्थ्य है। इसलिये वह किसीसे डरता नहीं।

(२६) मैत्र—साधु ईर्ष्यालु नहीं होता। वह सबसे प्रेमपूर्वक

मिलता है। उससे जो भी मिलता है, वही समझता है ये हमारे मित्र हैं सुहृद् हैं। उससे मिलनेपर किसीसे उद्वेग नहीं होता, सभी उसे श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं, क्योंकि उसका स्वभाव मिलनसार होता है। वह सबसे गहककर अत्यन्त निष्कपट भावसे हृदय खोलकर मिलता है।

(२७) करुणामय—साधुका हृदय करुणासे भरा रहता है। जैसे मुख तक भरे पात्रका दूध तनिक ठेस लगते ही छलकने लगता है उसी प्रकार उसका हृदय करुणासे ओत प्रोत होनेके कारण छलकता रहता है। उसकी करुणा सीमित नहीं होती, प्राणि मात्रपर वह करुणा करता है। साधुके सदृश कारुणिक संसारमें दूसरा कौन होगा। साधु करुणाकी मूर्ति होते हैं।

(२८) कवि—साधु कवि होता है। कविता करनेवालेका ही नाम कवि नहीं है। कवि कहते हैं सम्यक् ज्ञान युक्तको। साधुका ज्ञान विशुद्ध होता है, उसको स्वार्थ परमार्थमें कुछ भी सन्देह नहीं रहता। वह विद्या अविद्या, ज्ञान अज्ञान, बन्धन मुक्ति सभीके रहस्यको समझता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—उद्धव ! इस प्रकार इन २८ गुणोंसे युक्त पुरुष ही सच्चा साधु है।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन् ! यह तो आपने सामान्यतया साधुओंके लक्षण बता दिये। अब मैं जानना यह चाहता हूँ कि सर्वश्रेष्ठ साधुका लक्षण क्या है ?"

हँसकर भगवान् बोले—"सर्वश्रेष्ठ साधु तो वे हैं जो अनन्यभावसे मेरा ही भजन करते हैं। चारों वर्णोंकी चारो आश्रमोंकी सृष्टि मैंने की है। वेद मेरी ही वाणी हैं। वेदमें मैंने चारो वर्णोंके चारों आश्रमोंके पृथक् पृथक् धर्म बताये हैं। वेदमें ही मैंने इस बातका विस्तारसे वर्णन किया है, कि इन धर्मोंके पालनसे ये ये गुण होते हैं और इनके त्याग देनेसे

ये ये दोष होते हैं। किन्तु अनन्य भगवद्भक्त जो निस्त्रैगुण्य हो गया है तीनों गुणोंसे ऊपर उठ गया है, जो निरन्तर मेरे ही भजन-स्मरणमें लगा रहता है, वह मेरे भजनके पीछे वर्णाश्रम धर्मकी भी उपेक्षा कर देता है।"

इसपर उद्धवजीने कहा—"महाराज! वर्णाश्रम धर्मका त्याग तो मूर्ख पतित भी कर देते हैं, जिनपर तनिक भी बात बनाना आगया वे ही कह देते हैं—"लोको न वेदो न सुरा न यज्ञाः वर्णाश्रमो नैव कुलं न जाति।" वे सब कुछ छोड सर्वभक्षी बन जाते हैं, सब कुछ करने लगते हैं। क्या वे अनन्य भक्त हैं? क्या वे आपको प्राप्त होंगे?"

भगवान् बोले—"नहीं, नहीं, वे तो सीधे नरकको जायँगे। वे पतित लोग तो वर्णाश्रम धर्मके रहस्यको ही नहीं समझते। मैं तो उस अनन्य भक्तकी बात कह रहा हूँ कि अब तक जो वर्णाश्रम धर्मको ही सबसे श्रेष्ठ समझता था, किन्तु उपासना करते करते मेरे ध्यानमें ऐसा तल्लीन हो गया है, कि उसे सन्ध्या पूजा, अग्निहोत्रका ध्यान नहीं रहा। जो अहर्निशि मेरे ही ध्यानमें मग्न रहता है वह समस्त साधुओंमें श्रेष्ठ है। वह मेरी महिमाको जानता है कि कितना महान् हूँ, कैसा कृपालु, दयालु और भक्तवत्सल हूँ, इसलिये वह लोक धर्मकी कुछ भी चिन्ता नहीं करता, मेरे ही ध्यानमें तन्मय हो जाता है। उसके लिये और कोई कर्तव्य रहता ही नहीं।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! आप कितने महान् हैं, कैसे हैं

इन बातोंको जानकर जो आपकी अनन्य उपासना करता है वह अनन्य भक्त तो परमपदका अधिकारी होगा ही, किन्तु जो आपकी महिमाको जानते तो हैं नहीं वैसे ही सुनकर आपका अनन्यभावसे भजन करते रहते हैं तो उनकी क्या गति होगी ?"

भगवान् बोले—"उनकी भी वही गति होगी जो जानकर मेरा भजन करते हैं। मिश्रीको जानकर खाओ या बिना जाने तो मुख मीठा करेगी ही, अमृतको जानकर खाओ या अनजानमें अमर तो बनावेगा ही। विषको जानकर खाओ या अनजानमें अपना प्रभाव तो जतावेगा ही, अग्निको जानकर छूओ या अनजानमें जला तो देगी ही। इसी प्रकार मेरा अनन्यभावसे भजन चाहें मेरी महिमा जानकर किया जाय या बिना जाने दोनों ही परमपदके अधिकारी होंगे। इतना ही ध्यान रहे कि अन्य किसीका भी ध्यान न करे, भजन अनन्यभावसे हो। ऐसा भजन करनेवाला सभी साधुओंमें सर्वश्रेष्ठ है। ऐसी स्थिति भगवद् धर्मोंके पालनसे मेरी पूजासे प्राप्त होती है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! वे भगवत् धर्म कौनसे हैं। किस प्रकारकी आपकी पूजासे ऐसी स्थिति प्राप्त होती है। कृपया कुछ भगवद् धर्मोंका निरूपण करें जिन कर्मोंके करनेसे आपमे अनन्य भक्ति हो उन्हें बतावें।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"अच्छी बात है उद्धवजी! अब मैं तुम्हें वे उपाय बताता हूँ, जिनसे मेरी अनन्य भक्ति प्राप्त हो।"

नैमिषारण्य निवासी शौनकादि मुनियोंसे सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब जैसे भगवान् उद्धवजीको अपनी अनन्य भक्ति प्राप्त करनेके उपाय बतावेंगे उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

होवें साधु कृपालु तितिक्षू द्रोह रहित नित।
सत्यशील समभाव हितैषी मृदुल शुद्धचित॥
काम रहित संयमी सदाचारी निष्किञ्चन।
निस्पृह युक्ताहार शांतचित शरणागतजन॥
धीर गँभीर प्रमाद बिनु, षड्रिपुजित थिरधी मुनी।
मानरहित मानद सबहिँ, मिलनसार समरथ गुनी॥

—::※::—

संसारसे पार होनेके सरल साधन

(१२५०)

प्रायेण भक्तियोगेन सत्सङ्गेन विनोद्धव।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायणं हि सतामहम् ॥*
(श्रीभा० ११स्क० ११अ० ४८श्लो०)

छप्पय

करुनामय कवि होहिं साधु हरि भक्ति दृढावैं।
जे शुभ साधन करैं भक्ति ते प्रभुकी पावैं॥
प्रभु प्रतिमा अरु साधु दरस पूजन पद परसन।
सेवा इस्तुति विनय सहित गुन नामनि कीर्तन॥
ध्यान, दास्य मम पर्व तिथि, उत्सव गायन नृत्य नित।
कथा श्रवन अरपन सकल, मेरे हित सब करहिं व्रत॥

जिन कर्मोंसे भगवान्का स्मरण हो, चिन्तन हो नाम गुण कथन हो वे सभी कर्म भक्तिके अन्तर्गत हैं। भज धातुका अर्थ है सेवा करना। भजन भक्ति, अर्चा, पूजा, परिचर्या तथा उपासना ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। जिनका सभी काम श्यामसुन्दरके

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवसे कह रहे हैं—"उद्धव! सत्सङ्ग तथा भक्तियोगके बिना दूसरा कोई उपाय ही नहीं। क्योंकि मैं साधुओं का सहगामी और एकमात्र अवलम्ब हूँ।"

निमित्त होता है वे बडभागी भगवद्भक्त त्रिभुवनको पावन बनाये रहते हैं।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! जब उद्धवजीने भक्ति प्राप्त करनेके उपाय पूछे, तब भगवान् उनसे कहने लगे—"उद्धव! मेरी भक्तिके असख्य प्रकार हैं, उन्हें मैं कहाँ तक गिनाऊँ। संक्षेपमें इतना ही बताये देता हूँ, कि जो जो कर्म करे सब मेरी आराधनाके निमित्त करे, जिन कर्मोंसे ससार भूले और मेरी तथा मेरे भक्तोंकी स्मृति हो वे सभी भक्तिके साधन हैं।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो! मैं तो बहुत अज्ञ हूँ आप मुझे कुछ साधनोंके नाम गिना दें, जिनको मैं करता रहूँ।"

हँसकर भगवान् बोले—'उद्धव! तुम्हारे तो समस्त कार्य मेरे ही निमित्त होते हैं, तुम तो मेरे बाहरी प्राण हो, तुम यह प्रश्न लोकहितके निमित्त कर रहे हो। अच्छी बात है, सुनो मैं तुम्हें कुछ उपाय सुनाता हू।

(१) दर्शन—भक्तिका प्रथम उपाय तो यह है कि मेरे मन्दिरोंमें जाकर मेरी अर्चाविग्रहका दर्शन करना तथा मेरे भक्तोंका दर्शन करना। मन्दिरोंमें जो भगवान्की मनोहर मूर्तियाँ हैं वे भगवान् के ही रूप हैं। बात यह हुई कि जब राजा त्रिशंकुने सशरीर स्वर्ग जानेकी इच्छा की, तब विश्वामित्रजीने वशिष्ठमुनिकी लाग डाँटके कारण उन्हें यज्ञ कराया। उस यज्ञमें कोई ऋषि मुनि तथा देवता नहीं आये। ऋषि मुनि तो पीछेसे शापके भयसे आगये किन्तु देवता फिर भी नहीं आये। विश्वामित्रजीने अपने तपके प्रभावसे त्रिशंकुको सशरीर स्वर्ग भेज दिया। देवताओंने उसे स्वर्गसे ढकेल दिया। अब वह चिल्लाने लगा। विश्वामित्र-जीने मंत्रोंके प्रभावसे उसे बीचमें ही रोक दिया। अब उन्हें बडा क्रोध आया। वे सोचने लगे—'ये देवता मेरे तपका प्रभाव नहीं समझते। मैं नयी सृष्टि ही बनाये देता हूँ। नया इन्द्र बना-

ऊँगा, नये देवता बनाऊँगा। सब सृष्टिको नयी बनाऊँगा। स्त्रियोंसे बच्चे पैदा न कराके वृक्षोंपर फलकी भाँति बच्चे लगा करेंगे।" यही सब सोचकर उन्होंने श्रीफल-नारियल—को बनाया, पशुओंमें ऊँटको बनाया। अन्नोंमें कौंदो, मक्का आदि अन्नोंको बनाया। नये देवता, सप्तर्षि, लोकपाल सभी उन्होंने बना दिये। उनके इस कृत्यको देखकर देवता डरे। वे दौड़े दौड़े भगवान्‌के समीप गये। उनको सब समाचार सुनाया। सब देवताओंको लेकर भगवान् महामुनि विश्वामित्रके समीप आये और बोले—"मुनिवर! आप यह क्या कर रहे हो। एक सृष्टिमें तुम यह नयी सृष्टि क्यों बना रहे हो?"

विश्वामित्रजीने कहा—"महाराज! बनाऊँ न तो क्या करूँ, मेरी कोई सुनता ही नहीं। मैंने त्रिशंकु का यज्ञ कराया, देवता अभिमानवश आये नहीं, मैंने उसे स्वर्ग भेजा, देवताओंने उसे ढकेल दिया। अब नयी सृष्टि न बनाऊँ, तो क्या करूँ?"

भगवान् यह सुनकर हँस पड़े और बोले—"मुनिवर! तुम बड़े भोले भाले हो। जो राजा गुरुके शापके चांडाल हो गया है, वह स्वर्ग कैसे जा सकता है? फिर सशरीर कोई स्वर्ग जाता नहीं।"

विश्वामित्रजीने कहा—"कुछ भी हो महाराज! मेरी यह हठ तो माननी ही होगी।"

भगवान् बोले—"अच्छी बात है, त्रिशंकु जहाँ अधरमें लटक रहा है वहीं हम उसके लिये स्वर्ग बनाये देते हैं। अब सृष्टि बनाना बन्द करो।"

विश्वामित्रजीने कहा—"भगवन्! मैंने जो इतने देवता बना दिये हैं, ये क्या होंगे?"

भगवान् बोले—"इनकी भी मैं व्यवस्था किये देता हूँ। जो लोग स्वर्ग जाकर देवताओंका साक्षात् दर्शन न कर सकेंगे, वे

लोग यहीं जिन देवताओंकी प्रतिमा बनाकर उनकी विधिवत प्रतिष्ठा करेंगे ये देवगण उन्हीं प्रतिष्ठित प्रतिमामें नित्य निवास करेंगे। उन प्रतिष्ठित प्रतिमाओंके दर्शनोंसे साक्षात् देवोंके दर्शनोंका फल होगा। मैं भी अर्चावतार विग्रहसे नित्य पृथिवीपर रहूँगा। मन्दिरोंमे जो मेरी प्रतिमायें स्थापित होंगी उनमे मैं सदा निवास करूँगा।"

तबसे भगवान्का एक अवतार अर्चाविग्रह माना जाता है। बड़े बड़े धामोंमें भगवान् नित्य निवास करते हैं। मन्दिर बनवाकर जो उनमें भगवान्के या अन्य देवताओंके विग्रह स्थापित

करते हैं उनमें आकर भगवान् रहते हैं, इसलिये मन्दिरोंमें जाकर भगवान्के अर्चाविग्रहके नित्य दर्शन करने चाहिये, इससे भक्ति बढ़ती है।

साधु-दर्शन—भगवान्की दो प्रतिमायें हैं, एक तो अचल प्रतिमा जो मन्दिरोंमें स्थिर रहती हैं, दूसरी चल प्रतिमा जो भगवद्भक्त साधु रूपसे संसारमें विचरती रहती हैं। जो भगवान्की मन्दिरमें स्थित प्रतिष्ठित प्रतिमाका तो प्रेमसे पूजन करता है किन्तु चल प्रतिमा साधु सन्तोंका पूजन नहीं करता वह प्राकृत भक्त है। अतः भगवान्का अर्चाविग्रह और साधु सन्तों में कुछ भी भेदभाव न करना चाहिये। दोनोंमें ही समान भाव मानकर दोनोंके ही दर्शन करने चाहिये। भगवान्से भी बड़ा भगवद्भक्त होता है। संसारमें भटकते भटकते जब पुरातन पुण्य उदय होता है तब साधु सन्तोंके दर्शन होते हैं। जिसे साधुके दर्शन होगये, उनके प्रति श्रद्धा हो गयी उसका बेड़ा पार है। एक साधु वृक्षके नीचे बैठे थे। एक दूलहा पालकीमें बैठकर विवाह करने जा रहा था। सन्तको शान्त एकान्तमें बैठे देखकर उसकी दर्शन करनेकी इच्छा हुई। पालकी रोककर वह सन्तके दर्शनोंको गया। उसके भाग्य उदय हो गये, संसारसे पार होनेका उसका समय आगया। दर्शन करते ही उसे संसारसे वैराग्य हो गया, विवाहके वस्त्र उसने उतारकर फेंक दिये और साधुके साथ हो लिया। अन्तमें वह एक बड़ा नामी सन्त हुआ। कहनेका साराश यह है कि साधु-दर्शन कभी व्यर्थ नहीं जाता। किसीको तत्क्षण उसका फल मिल जाता है किसीको कुछ काल में मिलता है।

(२) स्पर्श-पूजन—मेरी दोनों प्रतिओंका स्पर्श करनेसे पूजन करनेसे भी भक्ति बढ़ती है। शालग्राम तथा अपनी पूजाकी अन्य प्रतिमाओंको छूनेसे तथा साधु-सन्तोंके चरणोंको

करनेसे भक्ति बढ़ती है। मनुष्योंके सब अङ्गोंमें जब सब देवत आकर बैठ गये, सब प्रत्येक अङ्गके अधिष्ठातृ देव हो गये त भगवान् विष्णु आये। सब देवताओंने कहा—'महाराज! आप सिरपर विराजिये।"

भगवान्ने कहा—"नहीं, भाई! हम तो चरणोंमें ही रहेंगे। वहीं बैठकर सबकी पूजा ग्रहण करेंगे। तबसे चरणोंके अधिष्ठातृ देव भगवान् विष्णु हैं। साधु, ब्राह्मण तथा गुरुजनोंके चरणोंमें वे प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं, इसीलिये जो इनके चरणोंको छूता है उसे भगवान्के स्पर्शका फल होता है। देवता, द्विज, गुरु विद्वान् तथा माता, पिता, ज्येष्ठभ्राता आदि अपने पूज्यजनोंके चरण स्पर्शसे भी भक्तिकी वृद्धि होती है।"

(३)सेवा सुश्रूषा—स्नान, पाद्य, अर्घ्यादिसे भगवान्की तथा भगवद्भक्तोंकी सेवासुश्रूषा करनेसे भी भक्ति बढ़ती है। संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं जो सेवा द्वारा न हो जाता हो। सेवासे सब कुछ प्राप्त हो सकता है। शबरी सेवासे ही जगत्पूज्या बन गयी। सेवासे पाषाण पिघल जाते हैं, फिर सहृदय पुरुषोंके तथा भगवान्के सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है।

(४)स्तुति तथा गुण कर्म कीर्तन—स्तोत्रों द्वारा भगवान् तथा भगवद्भक्तोंकी विनीत भावसे स्तुति करना। भगवान्के गुणों का उनके कमनीय कर्मोंका तथा श्रुतमधुर सुन्दर नामोंका नित्य नियमसे कीर्तन करना यह भी भक्ति बढ़ानेके लिये सर्वश्रेष्ठ साधन है। जिनके गुणोंका हम कीर्तन करेंगे उनके संस्कार हमारे हृदयमें आवेंगे। जिनके कर्मोंका चिन्तन और अनुकरण हम करेंगे उन कर्मोंके प्रति हमारे हृदयमें सहज अनुराग हो जायगा। गजने डूबते समय सूँड़में कमल लेकर भगवान्की स्तुति की उसीसे वह संसार सागरसे पार हो गया। गोपिकाओंने भगवानके गुण कर्मोंका कीर्तन किया इससे वे परमपदकी अधि-

कारिणी हुईं। स्तुति कीर्तन भक्ति बढ़ानेका अचूक उपाय है।

(५)भगवद् कथाओंमें श्रद्धा—भगवान्‌की कथाओंके प्रति श्रद्धा रखना यह भक्तिका सर्वप्रथम और सबसे अन्तिम उपाय है। सन्तोंके दर्शनके अनन्तर सर्व प्रथम भगवत् कथाएँ सुननेको मिलती हैं और कथा सुनते सुनते ही भक्तोंके शरीरका अन्त होता है। वे कथा श्रवण करके ही कालक्षेप करते हैं। महाराज परीक्षितने जब सुना कि उनकी आयुके अब सात ही दिन शेष हैं तो सर्वस्व त्यागकर गङ्गा तटपर चले गये और वहाँ भगवान् शुकके मुखसे भागवती कथाओंको सुनते सुनते ही संसारसे सदाके लिये मुक्त होगये। अतः जिसे भक्ति प्राप्त करनेकी इच्छा हो, उसे नियमपूर्वक नित्य कथा श्रवण करनी चाहिये।

(६)भगवत् ध्यान—मेरे भगवत् स्वरूपका नखसे लेकर शिखा तक तथा शिखासे लेकर नख पर्यन्त सम्पूर्ण अङ्गोंका ध्यान करना चाहिये। ध्यान उन्हींका आता है, जिनसे कुछ न कुछ सम्बन्ध हो। भगवान्‌से कैसे भी सम्बन्ध हो जाय, किसी भाव से सही, उनका ध्यान हो जाय, तो फिर पार करनेको वे विवश हो जाते हैं। यह हो ही नहीं सकता। कि जिसका हम निरन्तर ध्यान करें और वह हमारी ओर आकर्षित न हो। ध्यान एक ऐसी प्रबल डोरी है जो ध्येयको ध्याताके समीप हठात् खींचकर ले आती है। वंशी-ध्वनि सुनकर जब गोपिकायें मेरे समीप रासस्थलीमें आईं और मैंने उन्हें लौट जानेको कहा, तब अत्यन्त करुण स्वरमें गोपिकाओंने कहा—"प्यारे! तुम हमें अपना लो। ठुकराओ मत। तुम्हें अपनाना तो पड़ेगा ही। इस शरीरसे न अपनाओगे तो हम आपका ध्यान धरकर आपके चरणोंकी सन्निधि प्राप्तकर लेंगीं।" इस प्रकार मेरी भक्तिके लिये ध्यान भी उत्तम साधन है।

(७) सर्वलाभोपहरण—अपनेको जो भी कुछ प्राप्त हो, सब मेरे अर्पण कर दे। अपना कुछ माने ही नहीं। अन्न आवे उसे सुंदर रीतिसे बनाकर मेरा भोग लगा दे। बगीचेमें फल लगें सब मेरे प्रति अर्पण कर दे। साराश यह कि बिना मेरे अर्पण किये जल भी ग्रहण न करे। जो सब कुछ भगवान्‌के अर्पणकर देता है, उसे कर्मोंका बन्धन नहीं होता। एक बालक भक्त थे, वे जो भी मिलता, भगवान्‌को अर्पण करके तब खाते थे। एक दिन मार्गमें चले जा रहे थे। एक सुन्दर पका बेरका फल मिला उसे तोड़कर बाल स्वभावसे खा गये। जब फल कंठके नीचे पहुँचा तो उन्हें स्मरण हुआ-"अरे" मैंने इसे भगवान्‌के अर्पण तो किया ही नहीं। बहुत प्रयत्न किया फल कंठसे निकला ही नहीं, तब एक तीक्ष्ण खड्गसे ज्यों ही उन्होंने अपने कंठको काटना आरम्भ किया, त्यों ही मैं प्रकट हो गया। उनके इस सर्वलाभोपहरण रूपी कर्मसे मैं परम सन्तुष्ट हुआ और उन्हें अपने चरणोंकी शरण दी। साराश यह कि भक्तकी ऐसी वृत्ति बन जाय कि जो भी करे सबके अन्तमें कह दे "श्रीकृष्णार्पणमस्तु।"

(८)दास्यभावसे आत्म समर्पण—"उद्धव! शात, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर पाँच भावसे कहे गये हैं इन सबमें दास्यभाव ओत प्रोत है। शातभावमें तो संसारको सच्चिदानन्द रूप देखते हैं। देखनेवाला तो पृथक् हुआ ही। दास्यभावमें तो अपनेको सेवक और इष्टको स्वामी मानते ही हैं। वात्सल्यमें भगवान्‌को बालक और अपनेको उनका रक्षक मानते हैं, जैसे माता पिता बालककी रक्षा करते है। यद्यपि माता पिता बच्चेको छोटा मानते हैं, किन्तु उनका उसके प्रति दास्यभाव तो बना ही रहता है। उसे सुखी रखनेको छोटेसे छोटा काम करते हैं। उसकी सेवाको बड़े गौरवसे करते हैं। उसके वस्त्रोंको धोते हैं। सभी प्रकारके छोटे मोटे काम करते हैं। वात्सल्यमें दास्य निहित है।

इसी प्रकार सख्यभावमें यद्यपि इष्टको बराबरका मानते हैं, उसे मारते पीटते हैं, उससे झगड़ा भी करते हैं, किन्तु दास्यभाव उसमें भी छिपा रहता है। सखाके लिये प्राणोंको भी अर्पण करनेको उद्यत हो जाते हैं। मधुरभाव तो दास्यके बिना टिक ही नहीं सकता। उसमें दास्यभाव शिष्टाचार-हीन होता है। दोनोंके ही हृदयमें दास्य रहता है। वह दास्यभाव ही मधुर रस की अभिवृद्धि करता है। अतः दास्यभावसे आत्म समर्पण करना सर्वोत्कृष्ट साधन है।

(९) मेरे जन्म कर्मोंका कथन—परस्परमें चर्चा करनी हो तो मेरे जन्म कर्मोंकी ही करे। जिन नामोंमें मेरे जन्मकर्मोंकी स्मृति हो उनका उच्चारण करे। जैसे नन्द नन्दन, यशुमतितनय, देवकीनन्दन, वासुदेव, मुरलीधर, गिरधारी, केशिघ्न, कंसारि मधु-सूदन, गोविन्द, मुरारी तथा अन्यान्य भी नामोंका उच्चारण करे। अपने लडके लडकियोंके भी ऐसे ही नाम रक्खे।

(१०)ममपर्वानुमोदन—रामनवमी, नृसिंहचतुर्दशी, जन्माष्टमी, बलदेव छठि, परशुरामजयन्ती, वामन द्वादशी तथा अन्यान्य पर्वों पर व्रत रखे। सबको इन्हें मनानेकी प्रेरणा करे।

(११)धार्मिक उत्सव—मेरे सम्बन्धसे भक्त समाजको एकत्रित करके उत्सव मनावे। दूर दूर देश देशान्तरोंसे भक्तिरसके रसिक भक्तोंको बुलवावे। भगवान्‌के सम्मुख उनके यश सम्बन्धी गायन करावे, बाजे बजवावें, नृत्य करावे। और भी उत्सव सम्बन्धी लीलाभिनय आदि करावे। इस प्रकार उत्सव मनानेसे लोगोंमें धार्मिक भावोंका संचार होता है। शनैः शनैः चित्तपर प्रभाव पडने लगता है और इस संसारके कार्योंसे उपराम होकर चित्त भगवत् सेवा सम्बन्धी कार्योंमें लग जाता है।

(१२) वार्षिकी पर्वयात्रा—मेरे धामोंपर जो वार्षिक पर्वोत्सव होता है; जैसे रामनवमीपर श्रीअवधमें, जन्माष्टमीपर श्री व्रजमें

इसी प्रकार अन्य पर्व तिथियोंपर मेरे स्थानोंकी यात्रा होती है वहाँ अपने सम्बन्धियों सहित जाय, पूजा अर्चा करे, उन स्थानोंकी परिक्रमा करे तथा और भी जो वहाँके लौकिक वैदिक कृत्य हों उन्हें करावे।

(१३) दीक्षा—मेरे सम्बन्धकी दीक्षा ग्रहण करे। दीक्षा दो प्रकार की है, एक तो वैदिक मंत्रोंकी दूसरी तांत्रिक मंत्रोंकी। जैसा अपना अधिकार हो, जैसी योग्यता हो, जैसी गुरुदेवकी आज्ञा हो, जिसे शास्त्र मंत्र देनेका दृष्टिसे अधिकार हो ऐसे सद्गुरुसे मंत्र दीक्षा ले। दीक्षा लेकर मंत्र जपनेसे मंत्रकी शुद्धि होती है। दीक्षित होनेसे दृढ़ विश्वास हो जाता है। जैसे घरमें किसी सजातीय कुमारीको रख लो, उससे सन्तानें भी हों, किन्तु उसे पत्नी कोई नहीं कहेगा, सभी रखैली कहेंगे। उसीके साथ पंडित बुलाकर विधिवत् विवाहकर लो, तो वह पत्नी हो जायगी। दोनोंके ये संस्कार दृढ़ हो जायँगे कि हम परस्परमें पति पत्नी हैं। इसीलिये वैदिकी तांत्रिकी दीक्षाका विधान है। दीक्षा होना पुनर्जन्म है। जिसके मंत्रीक दीक्षा लेगा दीक्षित उसीका हो जायगा।

(१४) व्रत धारण—जो भी व्रत नियम धारण करे, मेरे ही निमित्त धारण करे। मेरे पर्वोंपर व्रत रखे। मेरी प्राप्तिके लिये विशेष व्रत लेले। अमुक समय तक या जीवन पर्यन्त यह न खाऊँगा, यह कर्म न करूँगा, इस वस्तुका उपयोग न करूँगा। ऐसे व्रत करनेसे सर्वथा मेरी स्मृति बनी रहती है।

(१५) श्रीविग्रह श्रद्धा—मेरे मन्दिरोंका जितना ही प्रचार प्रसार होगा, उतना ही संसारमें मेरा यश फैलेगा, मेरी भक्तिका विस्तार होगा। अतः जो मेरा मंदिर बनाना चाहता हो मेरी प्रतिमा स्थापित कराना चाहता हो, उसे उस काममें सहायता पहुँचाना कोई प्रतिमा-प्रतिष्ठा होती हो, तो वहाँ जाकर दर्शन करना, यथा-

शक्ति सहायता पहुँचाना ।

(१६) मन्दिर निर्माणोद्योग—मेरे मंदिर जहाँ जीर्ण हो गये हों, उनका जीर्णोद्धार करना । नये नये मंदिरोंको बनानेका उद्योग करना । मंदिरमे भगवान्‌को नित्य पुष्प चढे इसके लिये पुष्प वाटिका लगवाना । उसमें सुन्दर सुन्दर सुगंधित पुष्पोंके पौधे इधर उधरसे एकत्रित करके लगवाना । उन पुष्पोंको जलसे सींचना । उपवन फलके वृक्षोंके बगीचे लगवाना । नित्य मेरे लिये फलवाले वृक्षोंको मँगाकर लगावे, उनको सींचनेका प्रबन्ध करे । भगवान्‌के जहाँ उत्सव मनाये जाते हैं, ऐसे पीठोंका जहाँ नाना प्रकारकी क्रीडायें होती हैं ऐसे क्रीडा-गृहोका निर्माण करावे । अपने समीप यथेष्ट द्रव्य हो तो इन सबको स्वयं बनवावे । यदि इतना रुपया न हो तो इधर उधरसे लोगोंको प्रेरित करके धन एकत्रित करावे । उसी सार्वजनिक धनसे मेरे मंदिर तथा वन उपवनोंको बनवावे, लोगोंको इन कार्योंमे नियोजित करे ।

(१७) मंदिर सेवा—मेरे मंदिरोंमे जाकर अभिमान छोडकर छोटीसे छोटी सेवा करे । भगवान्‌के लिये किये जानेवाले सभी कार्योंको समान समझे । मेरे निमित्त जो भी कार्य किया जाय वही बड़ा है । अतः समस्त सेवाओंको यथाशक्ति यथासामर्थ्य स्वय ही करे, मनमें संकोच या लज्जा न करे, जैसे मंदिरको लीपना, पोतना, जल छिडकना, भारू-बुहारी देना, पोंछना । पार्षद मलना चोक, पूरना, सर्वतो भद्र बनाना । और भी जो मंदिर सम्बन्धी सेवायें हों उन्हें करना ।

(१८) निर्मानता तथा निष्कपटता—"मान होता हैं अभिमानसे और कपट होता है दम्भसे । दम्भ वही करेगा जो क्षुद्र होगा । जो वास्तवमे तो साधु है नहीं, किन्तु साधुका सा वेष बना लेता है । झूठी झूठी बातें करके लोगोंके मनको अपनी ओर खींच लेता है, उसका सभी व्यवहार कपटपूर्ण होता है । वह बातें

तो परमार्थकी करेगा, किन्तु उसके मनमें स्वार्थ भरा रहेगा। इधर उधरकी बातें बनाकर लोगोंसे धन ठग लें, किसी तरह इन्हें मूंडा लें। ऐसे दम्भी पुरुष मेरी भक्तिके अधिकारी नहीं हो सकते। मेरे भक्तको तो मानकी इच्छा रहती ही नहीं। जब वह सम्पूर्ण जगत्को मेरा स्वरूप समझता है, तो फिर वह मानकी इच्छा किससे करेगा। वह स्वयं चराचर जगत् का मान करेगा। उसके लिये छिपानेकी कोई बात ही नहीं है वह तो कपट करके क्या करेगा, कपट करे भी तो किससे करे। उसका तो दृढ़ विश्वास है कि मेरे स्वामी मेरी सब बातें देख रहे हैं। वे घट घटकी जाननेवाले हैं। अतः मेरा निर्मान और निष्कपट होता है।

(१९) आत्म प्रशंसा अभाव—साधारण मनुष्योंका यह स्वभाव होता है कि जो अपनेसे शुभ काम बन जाता है, तो उसको सबसे कहते फिरते हैं। अपने आप अपने कर्मोंकी प्रशंसा करने में बड़ा आनन्द आता है, किन्तु आत्मप्रशंसा करनेसे पुण्य क्षीण होता है। महाराज ययाति बहुत दिनों तक अपने पुण्य प्रभावसे स्वर्गलोकमें रहे, वे कभी कभी ब्रह्मलोक भी चले जाते थे। एक दिन इन्द्रने पूछा—"राजन्! आप जब घर द्वार, कुटुम्ब परिवार तथा राजपाटको छोड़ कर तपस्या करने वनमें चले गये थे, तब आपने किसके समान तप किया था?"

यह सुनकर ययातिको अहङ्कार आगया। वे अपने तपस्यादि पुण्य कर्मोंको स्मरण करके बोले—"देवेन्द्र! मनुष्योंकी तो बात ही क्या है मेरे समान घोर तप न आज तक किसी देवताने किया न गन्धर्वने और न महर्षियोंने। मुझे अपने समान तप करनेवाला कोई दिखायी ही नहीं पड़ता।"

यह सुनकर देवेन्द्र हँस पड़े और बोले—"राजन्! संसारमें एकसे एक तपस्वी पड़े हैं। ऐसे ऐसे तपस्वी पड़े हैं कि आप तो

उनका नाम भी न जानते होंगे। यह कहकर कि "मेरे समान तप वाला कोई दिखायी नहीं देता, आपने तपस्वियोंका अपमान किया है। अपने तपकी प्रशंसा अपने मुखसे की है, अतः आप का सब पुण्य क्षीण हो गया। अब आप स्वर्गसे ढकेल दिये जाओगे।" भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव जब इतने बड़े प्रतापी राजा ययातिका तनिकसी आत्मप्रशंसा करनेसे तप क्षीण हो गया, तो फिर उन लोगोंकी क्या दशा होगी जो कार्य तिल भर के समान भी नहीं करते, किंतु उसे प्रचार करते हैं सुमेरुसे भी अधिक। वे लोग तो अवश्य ही नरकके अधिकारी होंगे। अतः अपने किये हुए भजन, पूजन, तप तथा अन्यान्य शुभ कर्मोंको कभी किसीसे भूलकर भी न कहे।"

उद्धवजीने पूछा—"ब्रह्मन्! इनके अतिरिक्त कोई विशेष नियम बतावें।"

भगवान् बोले—"उद्धव! मुझे जो वस्तु दीपक आदि अर्पित की जाय, उसे अपने काममें कभी न लावे। मेरे निमित्त जो दीपक जलाया गया हो उसे अपने काममें न लावे। अंधकार दूर करने तथा पुस्तक आदि पढनेके लिये दूसरा दीपक जला ले, अथवा उसी दीपकमें दो बत्तियाँ जला दीं। इसी प्रकार अन्य वस्तुओंको भी समझें।

उद्धवजीने पूछा—'भगवन्! आपको नैवेद्य अर्पित करते हैं तो क्या उसे भी न पाना चाहिये।"

भगवान्ने कहा—"नहीं, वह तो महा प्रसाद है, उसके पाने से तो जन्म जन्मान्तरोंके अघ कटते हैं, किंतु उसे लोभ बुद्धिसे न खाना चाहिये। महाप्रसाद बुद्धिसे पाना चाहिये। जैसे जो ग्राम मेरी सेवाके लिये अर्पितकर दिया, तो उसकी आय घर गृहस्थीके काममें न लगायी जाय, मेरी ही सेवामें उसकी समस्त आय व्ययकी जाय। इसके अतिरिक्त जो भी वस्तु मेरे अर्पित

की जाय, तो फिर उसमें सभीका अधिकार हो जाता है। जैसे बगीचेमें आम पके, मेरे भोगमें रख दिये। प्रसादी हो गये, अब उसके अधिकारी सभी हो गये।"

उद्धवजीने पूछा—'भगवन्! कौन कौनसी वस्तुएँ आपको अर्पितकी जायँ।"

भगवान् हँसते हुए बोले—"उद्धव! अब वस्तुएँ तो बहुत हैं कहाँ तक मैं तुम्हें गिनाऊँ। तुम इतनेमें ही समझ लो कि जो जो वस्तुएँ संसारमें अपनेको अधिक प्रिय लगती हों उन्हींको मेरे अर्पण कर दे। मेरे अर्पण करनेसे वह वस्तु अनंत और अक्षय हो जायगी। जैसे एक गेहूँका दाना है। हम उसे स्वयं ही चबा गये, तो कहीं दाढ़ीमें ही हिलगा रह जायगा। उसीको भूमिमें बो दो। उचित क्षेत्रमें अर्पितकर दो, तो उससे पचासों दाने हो जायँगे और सबके सब पचास दानोंको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यवाले होंगे। उनसे जितने होंगे उन सबमें भी यही शक्ति होगी। अतः मेरी विधिवत् पूजा करे और मुझे अपने प्रियसे प्रिय पदार्थ अर्पित करे।"

उद्धवजीने पूछा—'भगवन्! आपकी पूजा केवल अर्चा-विग्रह मूर्तिमें ही करे या आपकी पूजाके और भी स्थान हैं?"

भगवान् बोले—"उद्धव! मेरी पूजाके तो सभी स्थान हैं, किंतु ग्यारह स्थान मुख्य हैं।

उद्धवजीने कहा—'ब्रह्मन्! उन ग्यारहों स्थानोंके कृपा करके मुझे नाम बता दीजिये और यह भी बताइये कि किन किन स्थानोंमें किन किन वस्तुओंसे कैसे पूजा करनी चाहिये।

भगवान्ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"अच्छी बात है, अब मैं तुम्हें अपने पूजा स्थानोंका ही परिचय कराता हूँ।

सूतजी शौनकादि ऋषियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! अब

आप भगवान्के मुख्य रहनेके ग्यारह स्थानोंके सम्बन्धमे श्रवण कीजिये ।

छप्पय

मम हित यात्रा करै देव मन्दिर बनवावै।
स्वयं शक्ति नहिँ होहि यत्न करिकें करवावै ॥
उपवन अरु उद्यान सभाथल शाला सुन्दर।
ह्वै कें निश्छल नित्य करै लेपन मम मन्दिर ॥
करी निवेदित वस्तु जो, लेइ न अपने काम महँ।
करै समरपित वस्तु प्रिय, होहि प्रेम मम नाम महँ ।

—:⁂:—

भगवान्‌की पूजाके ग्यारह आश्रय

(१२५१)

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजा पदानि मे ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ११ अ० ४२ श्लो०)

छप्पय

विप्र, धेनु, रवि, अनिल, अनल, भू, वैष्णव पानी ।
आत्मा अरु आकाश चराचर जगके प्रानी ॥
ये सब आश्रय कहे देव पूजाके प्यारे ।
उपस्थान तैं सूर्य अग्नि घृत आहुति डारे ॥
पूजै द्विज आतिथ्य करि, धेनु घास तृन डारिकैं ।
वैष्णवकूँ सत्कार करि, पूजे अति प्रिय मानिकैं ॥

भगवान्‌ने इस संसारको चित्र विचित्र बनाया है, इसलिये प्रायः सभीकी प्रकृति भिन्न भिन्न होती है। संसारमें एकसी कोई वस्तु है ही नहीं। कैसे भी प्रेमीसे प्रेमी हो, उनमें कुछ न कुछ रुचिकी भिन्नता होगी ही। आकृति, प्रकृति, रूप, रंग, वाणी

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"हे भद्र उद्धवजी! मेरे पूजाके आश्रय सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौएँ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथिवी, अपनी अन्तरात्मा तथा समस्त प्राणी ये सब हैं।"

सभीमें कुछ न कुछ अन्तर रहता ही है। रेखाशास्त्रके जानने वालोंका कथन है कि अँगूठेकी रेखा सबकी भिन्न भिन्न होती हैं। जैसे सबके हस्ताक्षर एकसे नहीं हो सकते वैसे ही अँगूठेकी लकीरें सबकी एकसी नहीं होतीं। इसीलिये जो हस्ताक्षर करना नहीं जानते उनके अँगूठेके चिन्ह लगाये जाते हैं सबकी आँखोंकी रेखायें एकसी नहीं होतीं सूक्ष्म रूपसे देखा जाय तो सबकी सब वस्तुएँ ही भिन्न होती हैं। इसीलिये सबकी उपासना भी भिन्न भिन्न होती हैं। भगवान् तो सर्व व्यापक है, उन्हें जो जहाँ भजता है, वे वहीं प्रकट हो जाते हैं, जिस वस्तुमें उनकी उपासना करता है उसकी वस्तुमें दर्शन दे देते हैं। उन्हें जो जैसे भजता है उसे वैसे ही भावसे परिचय देते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! जब उद्धवजीने भगवान्‌से उनके रहनेका आश्रय पूछा और यह जिज्ञासाकी कि आपकी पूजा हम कहाँ,किस स्थानमें करें, तब भगवान्‌ने कहा—'उद्धव! मेरी पूजाके मुख्य आश्रय ग्यारह हैं। सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथिवी, अपनी अन्तरात्मा और समस्त चराचर प्राणी। इन स्थानोंमें ही मेरी पूजा करनी चाहिये।"

उद्धवजीने कहा—'महाराज! इन स्थानोंमें आपकी पूजा कैसे करें? आकाशमें पुष्प कैसे चढावें?"

हँसकर भगवान् बोले—"भैया! उद्धव! कुछ फूल चढाना ही पूजा थोडे ही है। जैसा देवता हो वैसी पूजा करनी चाहिये। देश, काल, पात्र तथा परिस्थितियोंके अनुसार पूजा भी भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है। यदि जाडेके दिन हैं, पंखा करने लगे, शीतल चन्दन लेपन करने लगे, शीतल जलके स्नान कराने लगे तो यह पूजा नहीं। ठंडके दिनमें अग्नि तपाना, उष्ण जलके स्नान कराना, गरमागरम हलुआ भोग लगाना यही उस काल

की पूजा है। इसी प्रकार देशके कारण भी पूजामें भिन्नता हो जाती है। उष्ण देश है तो वहाँ शीतल वस्तुओंका व्यवहार अधिक होगा। शीत प्रधान देश है तो वहाँ उष्ण वस्तुएँ विशेष कार्यमें लायी जायँगी। इसी प्रकार पात्र भेदसे भी पूजाका भेद हो जाता है, सूर्यकी उपासना अन्य वस्तुओंसे की जायगी, आकाशकी पूजा अन्य वस्तुओंसे।"

उद्धवजीने पूछा—"हाँ महाराज! मैं यही तो जानना चाहता हूँ कि आपके किस आश्रयकी पूजा विशेषकर किन वस्तुओं से की जाय। प्रथम सूर्यकी ही उपासनाकी विधि बतावें, इनकी उपासनामें विशेषता किसकी रहे ?"

भगवान बोले—उद्धव! पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नानीय-जल, वस्त्र, यज्ञोपवीत, धूप, दीप नैवेद्य आदि सामग्रियाँ तो सामान्य सभीकी पूजामें आवश्यक हैं, किंतु भिन्न भिन्न आश्रयकी पूजामें विशेष विशेष वस्तुओंका प्राधान्य रहता है। जैसे सूर्यकी उपासनामें वेद मंत्रोंकी विशेषता है। उदय होते हुए सूर्यको वेद मंत्रोंसे उपासना करे, मध्याह्न कालमें तथा सायंकालमें भी उपस्थान करे। त्रिकाल सन्ध्या गायत्री जप ये सब सूर्यकी ही उपासना है। प्रातःकाल खड़े होकर स्तुति-मुद्रामें हाथोंको सम्मुख करके उपस्थान करे। मध्यान्हकालमें सिंहकी भाँति दोनों हाथोंको खड़ा करके उपस्थान करे और सायंकालमें हाथ जोड़कर करे। इस प्रकार वेदत्रयी द्वारा सूर्य मंडलमें मेरी उपासना करे।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! अग्निमें आपकी उपासना कैसे की जाती है, उसमें किसकी विशेषता रहती है ?",

भगवान् बोले—'अग्निमें वेद मंत्रों द्वारा घृतकी आहुति देना यही उनकी विशेष उपासना है। ऋषियोंकी अग्निशालामें सदा अग्नि प्रज्वलित रहती है। वे सायं प्रातः घृतकी

आहुति देकर उनका पूजन करते हैं। ब्रह्मचारी अग्निमें समिधाधान करते हैं। गृहस्थी सदा दोनों समय अग्निहोत्र करके अग्निका पूजन करते हैं। वानप्रस्थी यद्यपि घरको छोड देते हैं, नगरकी समस्त सुविधाओंका परित्यागकर देते हैं, न तो घरमे रहते हैं और न संसारी सुखोंका ही सेवन करते हैं, किंतु अग्निकी उपासनाको वे भी नहीं छोडते। वनके कदमूल फलों द्वारा वे अग्निकी आराधना करते हैं। अग्निहोत्र की रक्षाके निमित्त वे कुटी बनाते हैं। अग्नि देवताओंका मुख है, उनमे जिस देवताके निमित्त आहुति दी जायगी अग्निदेव तुरन्त उसे उस देवताओंके समीप पहुँचा देंगे। अग्निकी उपासना करनेसे द्विजाति तेजस्वी हो जाते हैं। जिन्होंने विधिवत् अग्निकी उपासनाकी है उसे अग्नि प्रत्यक्ष होकर फल देते हैं। एक ब्राह्मण किसी दूसरे ब्राह्मणसे पादलेप लगवाकर उडकर हिमालय प्रदेशमें पहुँच गया। वहाँ हिमके ऊपर चलनेसे और चित्र विचित्र दृश्य देखनेकी उत्सुकतामें उसके पैरका लेप धुल गया। उसकी उडनेकी शक्ति नष्ट हो गयी। अग्निहोत्रका समय निकट आगया। ब्राह्मण बडी चिन्तामें पडे। अन्तमे उन्होंने अग्निदेवसे प्रार्थनाकी, कि मैंने आपकी सविधि उपासनाकी हो तो मैं अभी तुरन्त अपने घर पहुँच जाऊँ।" अग्निदेव तुरन्त उसके शरीरमे प्रकट हुए और अपनी शक्तिसे ब्राह्मणको उसके घर पहुँचा दिया।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! ब्राह्मणको आपका आश्रय मानकर उसमें कैसे पूजा करें?"

भगवान् बोले—"उद्धव! मेरी वाणी वेद है। ब्राह्मण उसे धारण करते हैं। अतः ब्राह्मण मेरे स्वरूप ही हैं। मुझे जब भी रूप रखना होता है, मैं वृद्ध ब्राह्मणका ही रूप रखता हूँ। ब्राह्मणोंकी मैं भी पूजा करता हूँ, अतः लोग मुझे ब्राह्मण-

देव कहते हैं। और ब्राह्मणोंके निमित्त ही मैं अवनिपर अवतरित होता हूँ। ब्राह्मणोंकी जिन्होंने सेवाकी, उनका ही संसार मे यश है। मेरा जो इतना भारी यश है वह ब्राह्मणोंकी सेवाके ही कारण है। मयूरध्वज ब्राह्मणोंका कितना भक्त था। उसने ब्राह्मणके सिंहके लिये अपने पुत्रको भी आरेसे चीर डाला। राजा शिविने ब्राह्मणकी याचनापर अपने पुत्रका मांस स्वयं राँधकर दिया। कर्ण दानवीर इसीलिये कहाये कि ब्राह्मण जब जो आकर माँगते थे, वे तुरन्त दे देते थे। मैं जरासन्धसे बलमें हारकर मथुरा छोडकर नहीं भागा था। उसकी ब्राह्मण भक्तिके कारण ही मुझे अपनी पैतृक राजधानी परम पुण्यवती मथुरापुरी छोड़नी पड़ी। उद्धव! मुझे स्मरण नहीं आता कि ब्राह्मणोंकी उपासना करके आज तक संसारमें कोई दुखी हुआ हो। जब क्षत्रिय ब्राह्मणोंके द्रोही हो गये, ब्राह्मणोंकीपत्नियोंके साथ व्यभिचार करने लगे, ब्राह्मणोंके धन का अपहरण करने लगे, तभी मैंने परशुराम अवतार लेकर उनका संहार किया। ब्राह्मण मेरे शरीर हैं। ब्राह्मण चाहें बालक भी हो तो भी वह पूजनीय है। अन्य वर्ण चाहें कितना बडा वृद्ध हो ब्राह्मणका छोटा बालक भी उसे आशीर्वाद दे सकता है। ब्राह्मण जन्मसे ही पूजनीय है। कितने राजा हो गये हैं किन्तु सत्यवादी हरिश्चन्द्रका ही इतना नाम क्यों है! इसलिये कि ब्राह्मणका धन चुकानेके लिये वे पत्नी पुत्रके साथ स्वयं बिक गये और चांडालके दास बने। वह चांडाल और कोई नहीं था। मैं ही स्वयं चांडाल बन गया था। इतना कष्ट पड़नेपर भी राजाने ब्राह्मणोंके प्रति अश्रद्धा नहीं दिखायी। उद्धव! कहाँ तक गिनाऊँ, जितने भी तेजस्वी यशस्वी राजा हुए हैं, उनका यश तेज सब ब्राह्मणोंकी ही कृपासे बढ़ा है। सूर्य वंशमे कितने कितने पराक्रमशाली राजा हुए हैं, किन्तु

सूर्य वंश रघुवंशके ही नामसे विख्यात है? इसीलिये कि महाराज रघु ब्राह्मणोंके परम भक्त थे। एक बार मैंने स्वयं ब्राह्मण बनकर उनकी परीक्षा ली और जब वे परीक्षामें उत्तीर्ण हुए तो उन्हें वर दिया।"

इसपर उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! आपने महाराज रघुकी कैसे परीक्षा ली?"

भगवान् बोले—उद्धव! जब दशों दिशाओंमें महाराज रघुकी ब्राह्मणकी भक्ति कीर्ति फैल गयी, तो एक बार मैंने सोचा—"मैं राजाकी परीक्षा लूं।" मैं किसीकी परीक्षा उसके यशको बढानेके निमित्त ही लेता हूँ। राजा बड़े ब्राह्मण भक्त थे, उनके यहाँसे कभी कोई ब्राह्मण निराश नहीं लौटता था। राजा बडे हो गये थे, किन्तु उन्होंने विवाह नहीं किया था। वे चाहते थे—मैं ऐसी कन्यासे विवाह करू जो मेरे धर्म-कार्योंमें सदा अनुकूल रहे। ब्राह्मण भक्ति और अतिथि पूजनमें जिसे हार्दिक प्रसन्नता हो। खोजते खोजते ब्राह्मणोंने बताया कि एक राजकुमारी सर्वसुलक्षण सम्पन्न है। त्रैलोक्य सुन्दरी है और सद्‌गुणोंकी तो वह खानि ही है। राजाने उसके साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया। बड़ी धूमधामके साथ विवाह हुआ। विवाह करके नई रानीको विदा कराकर महाराज लौट रहे थे, कि मार्गमें लौटते समय एक वृद्ध ब्राह्मणने राजाको जय जयकार किया।

राजा तो परम ब्रह्मण्यदेव थे। वे रथसे उतर पड़े। ब्राह्मणकी चरण वन्दना की और हाथ जोडकर बोले—"ब्रह्मन्! मेरे लिये क्या आज्ञा है?"

ब्राह्मणने कहा—"राजन्! हमने आपकी बडी ख्याति सुनी है, अतः हम आपसे कुछ याचना करने आये हैं।"

राजाने कहा—"महाराज! आज्ञा कीजिये, मेरा तो सर्वस्व

ब्राह्मणोंका ही है। मैं तो उसका एक रक्षक मात्र हूँ। आपको धन, रत्न, हाथी, घोडा, रथ, ग्राम जो भी माँगना हो माँगे।"

ब्राह्मणने कहा—"मुझे ये सब वस्तुएँ कुछ भी नहीं चाहिये। मैं तो एक और वस्तु चाहता हूँ। वह दुर्लभ है।"

हँसकर राजा बोले—"भगवन्! ब्राह्मणोंके लिये क्या दुर्लभ है, आप आज्ञा तो कीजिये। संकोच करनेकी कौनसी बात है!"

ब्राह्मणने कहा—"राजन्! अब तक तो मैं तपस्या करता रहा। अब मेरी इच्छा गृहस्थ सुख भोगनेकी है। मैंने सुना है जिस रानीको विवाह करके लाये हो वह बडी गुणवती है। आप उसे ही मुझे दे दें।"

राजाने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"बहुत अच्छा महाराज! इसमें संकोच करनेकी कौनसी बात है। मैं अभी रानीसे पूछता हूँ।" यह कहकर राजाने पालकी रुकवाई। रानीको आज्ञा दी कि वे पालकीसे बाहर आ जायँ। राजाकी आज्ञा पाते ही रानी पालकीसे..उतर पडीं और हाथ जोडकर खडी हो गयीं। तब राजाने कहा—"राजकुमारी! इन ब्राह्मणकी इच्छा तुम्हें ग्रहण करनेकी है और मेरी इच्छा तुम्हें देने की है। अब तुम्हारी भी इच्छा मैं जानना चाहता हूँ, तुम्हारी इच्छा इनके साथ जानेकी है या नहीं।"

रानीने अत्यंत प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"महाराज! इसमें पूछनेकी कौनसी बात है। आप मेरे स्वामी हैं, मेरे लिये आप जो आज्ञा करेंगे उसे मुझे सिरसे पालन करना चाहिये। ये तो ब्राह्मण हैं, सत्पात्र हैं, भूदेव हैं। आप मुझे जिसके हाथ सौंप देंगे उसीके साथ चली जाऊँगी।"

राजाने ब्राह्मणसे कहा—"भगवन्! आपका मनोरथ पूर्ण हुआ। मेरी राजधानी यहाँसे समीप ही है। वहाँ चलें और विधिवत् इस रानीको ग्रहण करें।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! मेरे हाथमे कुशोंका मूँठा है, मेरे कमण्डलुमें सरयूजी का जल है। जल और कुश करसे ग्रहण कीजिये, मैं संकल्प बोलता हूँ शुभ कार्योंमें विलम्ब करना उचित नहीं, न जाने फिर क्या विघ्न आजाय।"

राजाने कहा—बड़ी अच्छी बात है महाराज! बोलिये संकल्प।"

राजाने वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत अपनी पत्नीको सविधि दान दिया। ब्राह्मण मूँजकी मेखला पहिने मृग चर्म-ओढ़े हाथमें कमण्डलु लिये आगे आगे चले और त्रैलोक्य सुन्दरी रानी-जिसे पैदल चलनेका अभ्यास नहीं था-उनके पीछे पीछे चली। यह देखकर राजा दौडे और बोले—"ब्रह्मन्! इस वेषसे आप रानी के साथ अच्छे नहीं लगते। एक दान तो आपने अपनी इच्छासे लिया और एक मेरी इच्छासे ले ले।"

ब्राह्मण बोले—"राजन्! तुम कौनसा दान मुझे देना चाहते हो?"

राजा बोले—"भगवन्! मैंने बहुत दिनों तक राज्य किया है और आपने बहुत दिनों तक तप किया है। अब आप राज्य करें, मैं तप करूँगा। जब आपकी इच्छा गृहस्थ सुख भोगने की हुई है तो अच्छी प्रकार भोगे।"

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव! मैंने ही तो ब्राह्मणका रूप रख लिया था। राजाकी ऐसी उदारता देखकर मैंने उसे अपने चतुर्भुज रूपके दर्शन दिये और वर दिया आजसे यह वंश रघुवंशके ही नामसे विख्यात होगा।" इसीलिये इतने बडे बड़े राजाओंके होते हुए भी सूर्यवंश रघुवंशके ही नामसे विशेष विख्यात है। उद्धव! ब्राह्मणभक्तिके असंख्यों उदाहरण वेद पुराणोंमें भरे पडे हैं। अतः ब्राह्मणके शरीरमें मेरी पूजा उत्तम आतिथ्यके द्वारा करे।"

उद्धवजीने पूछा—"गोकी पूजा किस विशेष रूपसे की जाय ?"

भगवान् बोले—"उद्धव ! गौ मेरा ही रूप हैं। मैं गौओंकी रक्षा करता हूँ, उनका पालन करता हूँ, इससे मेरा नाम गोपाल है। जो गौओंका पूजन करता है उससे मैं प्रसन्न होता हूँ। गौओंको देखकर प्रणाम करना चाहिये। राजा दिलीपने सुरभि को देखकर प्रणाम नहीं किया था, इसलिये उनके कोई सन्तान नहीं हुई। वशिष्ठजीको आज्ञासे उन्होंने कामधेनुकी पुत्री नन्दिनीकी पूजा की, इससे उनके रघु जैसे यशस्वी पुत्र हुए। गौओंके अंगोंमें समस्त देवता निवास करते हैं, उनके गोबरमें लक्ष्मीका निवास है। गौएँ लोकको मातायें हैं। गौओंकी विशेष पूजा यही है, उन्हें हरी हरी घास खिलावे। उन्हें खुजावे तथा सब प्रकारकी सेवा करे।"

उद्धवजीने पूछा—"प्रभो ! वैष्णवोंकी विशेष पूजा कैसेकी जाय ?"

हँसकर भगवान् बोले—"उद्धव ! अब भैया ! तुम्हे कैसे बताऊँ। देखो, घरमें जामाता आता है, तो उसका कैसा सत्कार किया जाता है। घरमें घी न हो तो पास पड़ौससे उधार ले आते हैं। पूड़ी कचौड़ी बनाते हैं। खीर हलुआ बनाते हैं। सब प्रकारसे उसका सत्कार करते हैं। मनमें बड़ा उत्साह होता है। वैष्णवोंके घर पधारनेपर जिसे ऐसा ही उत्साह हो, वही सच्चा भगवत् भक्त है। भक्ति बढ़ानेका यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है कि वैष्णवोंका बन्धुवत् सत्कार करे।

एक वैष्णव थे। वे स्वयं तो बड़े भगवत् भक्त थे, किन्तु उनकी पत्नी बड़ी कर्कसा थी। घरमें जहाँ कोई वैष्णव आया कि उसकी आते जल जातीं थी। सोचती थीं, इनके लिये रोटी बनानी पड़ेगी। वैष्णव बड़े सीधे सरल थे, वे स्वयं नहीं खाते

थे, वैष्णवोंको खिला देते थे। एक दिन उसका जामाता आया। उसके लिये वह कहींसे घी ले आयी, कहींसे दूध ले आयी, खीर पूड़ी बना लो। इतनेमें ही एक वैष्णव आगये जल भुनकर भस्म हो गयी, कि इनके लिये भी रोटी बनानी पड़ेंगी। यदि जामाता न आये होते, तो दश खरी खोटी सुनाती। जामाताके सम्मुख कैसे बोलती। उसने वैष्णवके लिये बेझड़की चार मोटी मोटी रोटियाँ और चटनी बना दी। वह घूँघट मारकर बना रही थी, पतिको परसनेको कह रही थी। उसने कहा—"पहिले पाहुनेको, जिमाते पीछे अपने वैरागीको भी खिला देना। वैष्णव ने कहा—'अब बार बार चोका क्या जूठा करना दोनोंको पृथक् पृथक् बिठा देंगे।"

उसने कहा—"अच्छी बात है। जामाताको चौकेमें बिठाना उस बाबाजीको ओटमें।"

वैष्णवने कहा—"अच्छी बात है। ऐसा ही करूँगा। तू तो थाली परस तो सही।" उसने एक थालीमें तो हलुआ, पूड़ी साग, दही, रायता, खीर आदि परसीं और एकमें बेझड़की रोटी और तनिकसी चटनी व थोडासा मट्ठा। कह दिया इस थालीको बाबाजीको परस देना, पहिली थालीको जामाताको दे देना।"

वैष्णव दोनोंको लेकर चल दिये। जिसमें खीर, पूड़ी हलुआ आदि था उसे तो साधुके सम्मुख परोस दिया और बेझड़की रोटीवाली थाली जामाताके सम्मुख परोस दी। दोनों ही खाने लगे। स्त्रीने जब घूँघटकी ओटमें से एक आँख से देखा, तो उसके क्रोधकी सीमा नहीं रही। किन्तु जामाताके सामने कुछ अपने पतिसे कहती है, तो उसका अपयश होगा। इसलिये घूँघटमें से ही दाँत पीसकर अपनी एक उँगलीसे नाकको छुरीके सदृश घिसकर संकेत करने लगी कि तुमने

तो मेरी नाक ही कटवा दी।"

हँसकर वैष्णव बोले—"तेरी नाक कट गयी, तो मेरी तो ऊँची हो गयी। जब तैंने एक चौकेमें दो प्रकारके भोजन बनाये तो हम दोनोंमेंसे किसी एक की तो नाक कटती ही। इसलिये मेरी न कटकर तेरी कटी। कोई बात नहीं।"

यह सुनकर स्त्री लज्जित हुई। कहने का सारांश यह है, कि वैष्णव साधु महात्माओंका आदर अपने सगे जामातासे भी अधिक करते हैं। वैष्णवको मेरा ही रूप समझकर उसकी पूजा करनी चाहिये।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन् आकाशमें कैसे पूजा करे।"

भगवान् बोले—"उद्धव ! मैं समस्त प्राणियोंके हृदय-कमलमें निवास करता हूँ। हृदयकमलमें मुझ विष्णुका ध्यान करना यही आकाशाश्रय मेरी पूजा है। जिस प्रकार आकाश सर्व व्यापक है उसी प्रकार मैं भी हूँ।"

उद्धवने पूछा—"वायुमें आपकी कैसे पूजाकी जाय प्रभो ?"

भगवान् बोले—"उद्धव ! प्राण दश प्रकारके होते हैं, उनमें प्रधान प्राण मुख्य है। मंत्र सहित प्राणायाम करना यही वायुकी मुख्य पूजा है।"

उद्धवजीने पूछा—जलमें आपकी पूजा कैसे करें ?"

भगवान् बोले—"गङ्गा आदि नदियोंमें या पुण्य सरोवरों-में अथवा बड़े बड़े जलाशयोंमें जल पुष्पादिसे पूजा करे, दूध चढ़ावे, प्रार्थना करे, यही जलकी पूजा है।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो ! भूमिमें आपकी पूजा कैसेकी जाय ?"

भगवान् बोले—"मंत्र हृदयोंके द्वारा पृथिवीमें वेदी बना कर उसमें मेरी भावनासे पूजा करे।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन् ! आत्मपूजा कैसे करे ?"

भगवान् बोले—"विविध प्रकारके भोग लेकर अपनी अन्तरात्माको तृप्त करे। जैसे सुन्दर अन्न बना है। मुख द्वारा अन्तरात्माकी आहुति दे। आँखोंसे सुन्दर सुन्दर रूप देखे। कानोंसे सुन्दर सुन्दर भक्तिभाव पूर्ण गायन श्रवण करे। इस प्रकार अन्तरात्माको सन्तुष्ट करे।"

उद्धवजीने। पूछा—"भगवन्! सम्पूर्ण प्राणियोंमे आपकी पूजा कैसे की जाय?"

भगवान् बोले—"उद्धव! मैं तृणसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्त चर अचर सबमें समान रूपसे व्याप्त हूँ। जो भेदभाव करता है वह भयको प्राप्त होता है। इसलिये सबमें समभाव रखे कभी किसीका अपमान न करे, मनसे भी किसीका अपकार न सोचे। यह भावना रखे कि सबमें मैं ही रम रहा हूँ, सब रूपोंमें मैं ही दृष्टिगोचर हो रहा हूँ। सूर्यमें, अग्निमे, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव आकाश, वायु, जल, पृथिवी, आत्मा अथवा समस्त प्राणियोंमें जहाँ भी मुझ क्षेत्रज्ञकी पूजा करे वहीं शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म युक्त मेरे चतुर्भुज शान्त स्वरूपका ध्यान करे। सूर्य मण्डलमें भी मेरी ही भावना करे, समाहित चित्तसे सर्वत्र मुझ विष्णुकी ही पूजा करे। इस प्रकार उद्धव! यज्ञादि जो भी शुभ कर्म करे, वापी, कूप, तड़ाग, धर्मशाला, बगीचा जो भी बनवावे, जो भी इष्ट और पूर्त कर्म करे, सबके द्वारा समाहित चित्तसे मेरी ही आराधना करे, मेरी ही पूजा करे। इस प्रकार की पूजासे मेरी भक्ति प्राप्त होती है और निरन्तरकी साधु सेवासे मेरे स्वरूपका ज्ञान होता है।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! साधन तो बहुत हैं। आप मुझे सर्वश्रेष्ठ सरल सुगम सर्वोपयोगी एक ही साधन बता दें।"

भगवान् बोले—"अरे, भाई! मैं बार बार तो बता चुका,

तुम मेरी वातको गाँठ बाँध लो। इस असार ससारसे पार होनेके लिये सत्संग सहित भक्तियोगके अतिरिक्त कोई अन्य साधन है ही नहीं। मुझे सबसे अधिक प्यारे साधु ही लगते हैं। साधुओंको मैं अपने हृदयका हार समझता हूँ। उनकी चरण धूलिके लोभसे मैं उनके पीछे पीछे फिरता रहता हूँ। साधु मेरा कभी स्मरण नहीं छोड़ते, मैं उनका साथ कभी नहीं छोड़ता। साधुओंका मैं ही एकमात्र अवलम्ब हूँ, मुझे छोड़कर वे अन्य किसीकी आशा करते ही नहीं। आशाकी बात तो पृथक् रही मेरे अतिरिक्त वे किसीको जानते ही नहीं। जो मुझसे इतनी ममता रखते है, फिर मैं भला उनसे क्यों न रखूँगा। मैं उन्हे कैसे भूल जाऊँगा।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! मैंने तो आपकी प्राप्तिके अनेक उपाय सुने हैं। किन्हीं किन्हीं ऋषियोंका मत है, कि आपकी प्राप्ति साख्य योग द्वारा होती है, कोई कहते हैं आप निरन्तर धर्मके पालनसे प्रसन्न होते है, किन्हींका कथन है आप वेदाध्ययन मंत्र जपसे प्राप्त होते हैं। कोई तपसे, त्यागसे, दक्षिणा सहित यज्ञोंसे इष्टापूर्त तीर्थ, व्रत, यम नियमोंसे आपकी प्राप्ति बताते हैं। आप मुझे वास्तविक बात बतावें, कि इनमें से किसके द्वारा आप प्राप्त होते हैं। आपके पानेके लिये इनमे से कौनसा मार्ग सरल सुगम है।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"उद्धव! शास्त्र अनन्त हैं, जितने तत्वदर्शी मुनि हुए हैं, उतने ही उनके पृथक् पृथक् मत हैं। मेरी प्राप्तिके उपाय वैसे बहुत हैं, किन्तु जितना सरल, सुगम, सीधा और सर्वोपयोगी साधन सत्संग है, उतना दूसरा कोई है ही नहीं।

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! आपके वचनोंको सुनते सुनते मेरी तृप्ति ही नहीं होती। मैं आपके मुखसे सत्संगकी

महिमा सुनना चाहता हूँ। सत्संगका अर्थ क्या है।"

भगवान् बोले—"संसारमें सबसे सत् मैं ही हूँ, मुझमें आसक्ति हो जाना यही सत्संग है। मुझमें जिसकी आसक्ति हो गयी, उसकी संसारसे आसक्ति हट ही जाती है। जहाँ संसारसे आसक्ति हटी, मुझमें मन लगा, वहाँ वह भवसागरसे पार हुआ। अब मैं तुम्हें सत्संगकी महिमा विशेष रूपसे सुनाता हूँ, उसे तुम दत्तचित्त होकर श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अब जैसे भगवान्‌ने उद्धवजीको सत्संगकी महिमा बताई उसका वर्णन मैं आगे करूँगा। यह अत्यंत गूढ गोपनीय रहस्य है।"

छप्पय

मुख्य प्रान तें वायु हृदय आकाश ध्यान धरि।
पुष्पादिक तैं नीर भूमि वेदी थापन करि॥
अन्तरातमा करे तुष्ट भोगनि तैं नियमित।
पूजै करि सम दृष्टि सकल प्रानिनि महँ नितनित॥
शान्त चतुरभुज रूपको, करै ध्यान है समाहित।
करै करम मेरे निमित, मोमैं राखै नित्यचित॥

—::::—

सत्संगकी महिमा

(१२५२)

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः ।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥*
(श्रीभा० ११स्क०१२अ०१३श्लो०)

छप्पय

भक्तियोग सत्सग बिना सुख नहिँ नर पावैं।
चाहें जप तप करैं योग करि ध्यान लगावैं॥
सत्सगतितैं तरे दैत्य अन्त्यज अघकारी।
असुर, गीध, गज, गाय, गोपिगन कुबजा नारी॥
नहीं करी सेवा महत, वेद पढे नहिँ व्रत करे।
करि सतसगति जगत्महँ, जीव चराचर बहु तरे॥

यह प्राणी आसक्तिसे फँस जाता है। जिसे मनने कसकर पकड लिया फिर उसीका बन जाता है। संसार क्यों चल रहा है? केवल आकर्पणके वल पर। पुरुप का मन स्त्रीमे खिंचा है,

* भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी उद्धव जी से कह रहे हैं—"देखो-उद्धव! व्रजकी गोपिकायें मेरे वास्तविक स्वरूपसे अनभिज्ञ थीं। वे मुझे परम रमण समझती थीं और जारबुद्धिसे मेरी कामना करती थीं। ऐसी सैकड़ों सहस्रों अबलायें निरन्तर मेरे सङ्गके कारण मेरे परब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुईं।"

स्त्री का मन पुरुपकी ओर खिच रहा है। स्त्री पुरुप दोनों का मन पुत्र पुत्रियोंकी ओर खिंच रहा है। यह खिंचाव कम नहीं होता। मरते समय स्त्री को पुरुपको पुरुपको स्त्री को, बालबचोंकी स्मृति बनी रहती है। इससे जिस जिस योनिमे जीव जाता है उस उस योनिमे स्त्री बाल बच्चे मिलते हैं। अपने नहीं होते, दूसरोंमे अपनापन स्थापित कर लेते हैं। जडभरतजीका मन हिरनके बच्चे मे ही फॅस गया, इससे उन्हें हिरन होना पडा। जप तप से, नियम सयमसे इस मनको रोकते हैं, रुकता ही नहीं। यह इतना नीच है, कि इतने बुरे स्थानमें फॅस जाता है कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। चक्रवर्ती भरत अपनी त्रैलोक्यसुन्दरी पत्नियों को छोड गये, फूलसे राजकुमारोंके मोहको तृणके समान तोड गये, वनमे जाकर समाधि लगाने लगे। उच्चसे उच्च स्थिति प्राप्त करली, अन्तमें दयाने उनके साथ छल किया। हवन करते समय हाथ जल गये। मन फॅस गया एक पशुमे। किसी भी प्रकार मन किसी महापुरुपके चरणोंमे फॅस जाय, तो सब दुख दूर हो जायॅ। यह क्षुद्र मन महापुरुपोंके चरणोंमे न फस कर कामिनियोमे फॅस जाता है। इससे काममय बन जाता है। भगवान् तो निष्काम हैं, यदि उनमे कामसे भी मन फॅसे तो काम तो उन्हे देखकर ही भाग जायगा, क्योंकि वे कामारि हैं।

सूतजी शौनकादि मुनियोसे कह रहे है—"ऋषियो! जब उद्धवजीने भगवान् से अपनी प्राप्तिका एक ही सुगम सरल उपाय पूछा, तब भगवान् उनसे कहने लगे—"उद्धव! एक ऐसा सरल सुगम, अत्यन्त गूढ और गोपनीय साधन है कि वह सब किसीको नहीं बताया जा सकता। सबके सम्मुख कहने की वस्तु भी नहीं है, किन्तु तुम सर्व साधारण पुरुषोंके समान तो हो नहीं। तुम तो मेरे अनन्य सेवक हो। जबसे में मथुरामे आया हूँ तभी से तुम मेरी सेवा कर रहे हो। सम्पूर्ण जीवन तुमने मेरी सेवामें ही

व्यतीत कर दिया है। तुम्हारे समान मेरा सेवक कोई दूसरा है ही नहीं तुम सेवक ही नहीं मेरे सुहृद् भी हो। मेरा तुम्हारा हृदय एक-सा है, तुम अत्यन्त प्रेममय हृदयवाले हो। तुम मेरे सखा भी हो, संसारमें सबसे कुछ न कुछ छिपाया जाता है, किन्तु सखासे कोई बात नहीं छिपायी जाती। पतिव्रता सबके सम्मुख नीचा सिर किये रहती है, किसीसे दृष्टि नहीं मिलाती, किन्तु पतिसे कोई बात नहीं छिपाती, इसलिये मैं तुम्हे रहस्यकी बात बताता हूँ।

देखो, योगके द्वारा मेरी प्राप्ति भी होती है। चित्तकी वृत्तियों निरोध का ही नाम योग है आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि इनके द्वारा चित्तको वशमें करते हैं किन्तु इनमें बड़ा क्लेश है। कभी कभी योगारूढ़ होजानेपर भी पतन हो जाता है सांख्यज्ञान द्वारा भी मेरी प्राप्ति होती है। सांख्यज्ञानमें तत्वोंकी संख्या की जाती है। जो छब्बीस तत्वोंको जानजाय वह जटी, मुंडी, गृहस्थी, वानप्रस्थी कोई भी हो मुक्त होजाता है, किन्तु ऐसी निष्ठा कठिनता से होती है। धर्मसे भी मेरी प्राप्ति ऋषि मुनि बताते हैं। जप, तप, त्याग, इष्ट, पूर्त, दक्षिणा, व्रत, वेद, तीर्थ तथा यम नियम जिन जिन साधनोंका तुमने नाम गिनाया है इन सबसे मैं वशमें होता हूँ, किन्तु सर्वसङ्ग-निवारक सत्संगके द्वारा मैं जैसा वशीभूत होता हूँ वैसा इनमें से किसी साधन द्वारा नहीं होता।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज! सत्संग क्या? साधुओंके बीच में बैठकर उनके उपदेशोंको सुनना यही सत्संग है न?"

भगवानने कहा—"उद्धव! महत पुरुषोंके सङ्गका भी नाम सत्संग है, किन्तु, पहुंचने धूर्त लोग अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये—पैसा कमानेके लिये—भी सत्सङ्गका ढोंग रचते हैं। उनका उद्देश्य तो यह होता है, किसी प्रकार लोगोंको एकत्रित करें और जब एकत्रित होजायँ तो उन्हें फँसाकर औषधालय, पाठशाला आदिके नामसे उनसे कुछ द्रव्य लेवें। उनका सत्संग व्यापार है। इसमें

परलोक सम्बन्धी कोई लाभ नहीं। जिनके सगसे भगवान् मे प्रेम हो उन्हीं महापुरुषो का संग सत्सग है। किन्तु यहाँ सत्सगका अर्थ दूसरा ही है। ससारमे एकमात्र सत् मैं ही हूँ, मुझमे किसी प्रकार भी आसक्ति होजाय, तो फिर किसी भी साधनकी आवश्यकता नहीं। मुझमें आसक्ति करनेवाले सात्विक पुरुषोका ही उद्धार हुआ हो, सो बात नहीं। दैत्य, राक्षस, मृग, पक्षी, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, वैश्य, शूद्र, स्त्री, अन्त्यज आदि जो घोर राजस तामस स्वभावके हैं वे भी मेरे सङ्गसे मुझमें आसक्ति होनेसे तर गये हैं।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो! दैत्य तो घोर तामसी होते हैं, उनमेसे कौन कौन आपका भजन करके तरे हैं?"

भगवान्ने कहा—"देखो, उद्धव! वृत्रासुर दैत्य ही तो था। दैत्योंका अग्रणी होकर वह देवताओसे लडा। इन्द्रके उसने छक्के छुडा दिये, किन्तु दैत्य होत हुए भी उसको मुझमें आसक्ति हो गयी उसके हृदयमें मेरी भक्तिका अकुर जम गया वह ससार सागरसे पार हो गया।

प्रह्लाद दैत्यराज हिरण्यकशिपु के पुत्र ही थे। मुझमें आसक्ति रखनेके कारण भक्ताग्रगण्य हुए। देवताओंकी सभाओंमें भी जब भगवद्भक्तोंकी गणना की जाती है, तो प्रह्लाद का सर्व प्रथम नाम आता है।

वृषपर्वा दैत्य ही थे, असुरोंके गुरु शुक्राचार्य उसके पुरोहित थे, इतना होने पर भी उसकी मुझमें भक्ति थी, वे मुझसे अनुराग करते थे।

प्रह्लादजीके पुत्र विरोचन भी मेरे भक्त थे, उनके पुत्र बलिने तो मुझे अपनी आसक्तिसे द्वारपाल बना लिया। मैं वामन बनके गया तो था उसे ठगने किन्तु अपने प्रेमसे उसने ही मुझे ठग लिया। अब मैं उसके द्वार पर सदा द्वारपाल बनकर उसकी रक्षा

करता रहता हूँ।

उसका पुत्र बाणासुर हुआ। उसकी पुत्री ऊषाने मेरे पौ अनिरुद्धका हरण कराकर उसे अपने यहाँ बुला लिया। इस उसने अनिरुद्धको बन्दी बना लिया। हम सब बाणासुरके नग शोणितपुर में गये उससे युद्ध किया। उसके सहस्र हाथ थे मैं उसके सब हाथ काट दिये चार रहने दिये। वह अपनी भक्ति शङ्करजीका मुख्य गण हुआ और मेरा भी भक्त रहा।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! दानवोंमे भी कोई हुए हैं?

भगवान्ने कहा—"भक्तोंकी कोई जाति तो होती नहीं, जिसकी मुझमें आसक्ति हो गयी वही भक्त हो गया। दानवोंमें मय दानव मेरा बड़ा भक्त हुआ है। मेरी उपासनासे ही उसे नाना प्रकार की रचना करने की शक्ति प्राप्त हुई है।"

उद्धवजीने कहा—"राक्षसोंमें कोई ऐसे आपमे भक्ति करने वाले भक्त हुए हैं?"

भगवान्ने कहा—"हुए क्यों नहीं राक्षसोंमें विभीषण मेरे कैसे भक्त हुए हैं, मुझमें आसक्ति करने के कारण ही वे संसारमें सबसे पूज्यनीय भक्त माने जाते हैं। वे अपने कुटुम्ब परिवार सबको छोड़ कर मेरी शरणमें आये, मैंने उन्हें शरण दी अपनाया, उन्होंने मेरा सङ्ग किया, इससे राक्षस होने पर भी मेरी पूजाके साथ पूजे जाते हैं मेरे मुख्य पार्षदोंमें गिने जाते हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन! वानरोंमें भी आप के कोई ऐसे सत्सङ्गी भक्त हुए हैं?"

भगवान बोले—"हुए क्यों नहीं जी। वानर तो सभी मेरे भक्त थे। मेरी भक्तिके कारण ही तो वे घर द्वारकी ममता त्याग कर मेरे साथ लंकापुरी युद्ध करने गये थे। उनमें हनुमान जी तो भक्तप्रगण्य हुए। हनुमानजीमें और मुझमें कोई अन्तर ही नहीं। वे मेरे ही समान पूजे और माने जाते हैं। सुग्रीव भी परम भक्त

हुए हैं। इन सबकी मुझमें अत्यन्त आसक्ति थी। वानर भालु सभी मुझमें अनुराग रखते थे। जाम्बवान् मेरे सङ्गके ही द्वारा भक्त शिरोमणि बन गये। इस कृष्णावतारमें भी युद्ध करके मैंने उनकी इच्छा पूर्ति की और उनकी पुत्री जाम्बवतीके साथ विवाह किया।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज! पशुओंमें भी कोई हुए हैं।

भगवान् बोले—"उद्धव! गज पशु ही तो था। जब ग्राहने उसका पैर पकड़ा तब उसने आर्त स्वरसे मुझे पुकारा। मैं गरुड़ पर चढ़कर तुरन्त गया और चक्रसे नक्रके वक्रको काट कर गजका उद्धार किया। मुझमें ही आसक्ति होनेके कारण वह तामसी गजयोनिको छोड़कर विमुक्त बन गया। व्रजके हरिन, पशु पत्ती यहाँ तक कि यमलार्जुन वृत्त तक मेरे सङ्गसे पवित्र हो गये।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! पत्तियोंमें भी ऐसे हुए हैं?"

भगवान् बोले—"हाँ, पत्तियोंमें गृद्धराज ऐसे ही हुए। सत्संगके प्रभावसे वे भी मेरे धामको प्राप्त हुए। रामरूपसे मैंने स्वयं पुत्रकी भाँति उनके दाहसंस्कार आदि किये।"

उद्धवजीने पूछा—"वैश्य शूद्रोंमें भी कोई ऐसे हुए हैं?"

भगवान् बोले—"अनेकों ऐसे हुए हैं। तुलाधार वैश्य मुझमें ही आसक्ति करनेके कारण धर्मके ऐसे ज्ञाता हुए। धर्म व्याध मेरे ही प्रेमके प्रभावसे सिद्ध हुए। मैं कहाँ तक गिनाऊँ। व्रजके तृण, वृक्ष, खग, मृग, गायें गोपियाँ ये सबके सब केवल मेरे सत्सङ्गजनित भक्तियोगके प्रभावसे इस असार संसारको सुगमताके साथ पार करके मुझ परब्रह्मको प्राप्त हो गये।

उद्धव! मुझे वैदिक मार्गसे प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मचर्य व्रत लेकर गुरु गृहमें रह कर नियमपूर्वक वेदोंका अध्ययन करना चाहिये। आश्रम व्यवस्थाके अनुसार धर्मका आचरण करना

दिखायी देता है। मनको कोई कसकर पकड़ ले, तो फिर योग, वैराग्य, जप, तप आदि सब साधन व्यर्थ हैं। समस्त साधन तो मनकी बिखरी वृत्तियोंको रोकने ही के लिये किये जाते हैं। रुका हुआ मन अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। किन्तु मनको ही कोई अपनी ओर खींच ले उसे ही कोई अपने रंगमें रँग ले, तो साधनोंकी क्या आवश्यकता है। मन को एक मात्र श्रीकृष्ण ही अपनी ओर खींच सकते हैं, क्योंकि कर्षण करनेसे ही वे कृष्ण कहाते हैं। दूसरे संसारी लोगोंकी ओर जो आकर्षण होता है वह क्षणिक होता है। अस्थायी होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! गोपियोंके प्रेम की प्रशंसा करते हुए भगवान् कह रहे हैं—"देखो, उद्धव ! कितने योगी आँख कान बन्द करके, व्रत उपवास प्राणायामादि करके मेरा ध्यान धरते हैं, किन्तु उनके लिये मैं छुरेकी धारकी भाँति हो जाता हूँ। वे चिल्लाते हैं—"यह अति दुर्गम मार्ग है, अति दुर्गम मार्ग है।" किन्तु व्रजकी गोपिकायें न तो कुछ पढ़ी लिखी थीं, न उनमें कुछ शौच आचार विचार ही था। उन्हें द्वैत अद्वैतकी जटिल पहेलियों-का परिचय भी नहीं था। उनकी मुझमें आसक्ति हो गयी। कुछ भले ही मेरे यथार्थ रूपको जानती हों, बहुतों को तो ज्ञान भी न था कि मैं परब्रह्म हूँ। उन्होंने मेरा त्रिभुवनमोहन श्यामसुन्दर स्वरूप देखा, वे मेरे रूप पर लट्टू हो गयीं। उन्हें मैं अपने पतियोंसे भी अधिक प्यारा प्रतीत होने लगा। स्त्रियोंको जार पति अपने वास्तविक पतिसे अत्यन्त प्यारा होता है। बहुतसे तो जार पतिके लिये अपने पतिकी हत्या तक कर देती हैं। मुझे वे सब जार पतिसे भी अधिक प्यार करने लगीं। वे मुझे परम रमण श्रेष्ठ और मनमोहक समझकर चाहती थीं। कैसे भी सही जानमें अनजानमें उनकी आसक्ति तो मुझ सर्वान्तर्यामीमें थी ही। मिश्री को जानकर मुखमें डालिये या अनजान में मुख तो मीठा हो ही

जायगा। अग्निको जानकर छूइये या अनजानमें शरीर को तो जला ही देगी। इसी प्रकार अनजान में भी भाग्यवश-उनका मुझ सत्स्वरूपसे सङ्ग हो गया। उन्होंने अपना तन, मन, धन सर्वस्व मेरे अर्पण कर दिया। अपना कहने के लिये उन्होंने कुछ भी न रखा। मैं भी उन्हें हँसाता रहा, खिलाता रहा, सरस क्रीडा करता रहा। वे मुझमें इतनी आसक्त हो गयीं, कि सब कुछ भूल गयीं। उनका विश्वास था, मैं सदा उनको इसी प्रकार हँसाता रहूँगा, सदा उनके साथ रहकर क्रीडा करता रहूँगा , किन्तु यह सब बात हुई नहीं।

एक दिन चाचा अक्रूर गये और बडे भैया बलरामके सहित रथ पर बिठा कर मुझे मथुरा लिवा लाये। उद्धव! उस समय गोपियोंकी कैसी दशा हुई थी, उसे स्मरण करके हृदय फटता है। वे भूली-सी भटकी-सी, पालामारी लता सी चुप चाप खडी आँसू बहाती रहीं और रथके ओझल होते ही पछाड खाकर कटी लता के समान गिर गयीं। उस समय उन्हें संसारमें कुछ सूझता ही नहीं था। उन्हें यत्र तत्र सर्वत्र मेरी ही सलोनी मूर्ति दिखायी देती थी। उनका चित्त मुझमें अनुरक्त था, अतः वे मेरा ही स्मरण करके रोती रहती थीं।

रास विलास की वे रात्रियाँ छै छै महीने की होती थीं। मेरे साथ क्रीडा करते करते उन्हें वे आधे क्षणके समान प्रतीत होती थीं। जब कहता—"प्रातःकाल होगया।" तब वे चौंक पडतीं और पूछतीं—"क्या सचमुच अरे, अभी अभी तो हम आयीं थीं।" उद्धव सुखका समय जाते हुए दिखायी नहीं देता। आज उनके लिये वे रात्रियाँ महाकल्पके समान लम्बी होगयीं हैं। अब वे मेरी याद कर करके सिसकियाँ भरती रहती हैं। उन्हें खान पान राग रङ्ग होली, दिवाली श्रावण कुछ भी अच्छा नहीं लगता। पहिले होलीके महीनों पहिले से ही वे कितनी तैयारियाँ करती थीं। आज

होली निकल जाती है एक बूंद टेसूका रंग नहीं तनिक-सा अबीर गुलाल नहीं। अब तो वे निरन्तर मेरे ही ध्यानमें मग्न बनी रहती हैं। उन्हें संसार दीखता ही नहीं। उद्धव ! अब तुम ही बताओ, इससे बढ़ कर और समाधि क्या होगी। नदियाँ जैसे समुद्रमें

मिलकर अपने नाम रूप को भूल जाती हैं, समाधिमें स्थित योगी जैसे अपनी अपनी उपाधियोंको भूल जाते हैं, वैसे ही मेरे प्रेममें डूब जानेके कारण वे सब कुछ भूल गयी हैं। उन्हें केवल मेरी स्मृति ही स्मृति शेष है। उन्हें अपने शरीरकी सुधि नहीं घरकी सुधि नहीं संसारकी सुधि नहीं केवल मेरी ही एक मात्र स्मृति है।'

उद्धवजीने कहा—"प्रभो! मैं तो स्वयं जाकर उनकी दशा देख आया था। उनकी दशा पर तो सहस्रों समाधियोंके सुखको न्यौछावर किया जा सकता है। अब मुझे बताइये, मुझे उनकी जैसी स्थिति कैसे प्राप्त हो?"

भगवान्‌ने कहा—"उद्धव! अब तक तुमने बहुत विधि निषेध का पालन किया। अब तुम श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य तथा श्रुत–सभीका परित्याग करके केवल अनन्यभावसे मेरा ही स्मरण करो। मेरी ही शरणको गह लो। मैं ही समस्त देहधारियों का आत्मा हूँ। मैं ही सबका आधार हूँ, मेरी ही शरणमें सुख है, मेरी ही शरणमें शाश्वती शांति है। मेरे आश्रित होकर तुम सर्वथा, सुखी शान्त और निर्भय बन जाओगे। तुम अपनेको साधारण जीव मत समझो। सर्व समर्थ शिव अनुभव करो।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो! आपके समझानेमें तो कुछ त्रुटि है नहीं, किन्तु मैं इतना मन्दबुद्धि हूँ कि आपके इतना उपदेश करने पर भी मैं भली भाँति समझ नहीं सका। मेरा सन्देह अभी दूर नहीं हुआ। मेरा चित्त भ्रमित हो रहा है। अपने को जीव न समझकर शिव कैसे समझूँ। मैं अनन्यभावसे आपकी उपासना कैसे करूँ? कृपा कर मुझे भली भाँति समझाइये।"

यह सुनकर भगवान् बोले—"अच्छी बात है, उद्धव! यह विषय बड़ा गूढ़ है, तुम समाहित चित्तसे कर्मत्यागकी विधिको श्रवण करो।"

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! जिस

प्रकार भगवान्‌ने उद्धवजी को कर्मत्यागकी तथा गुणोंसे ऊपर उठनेकी शिक्षा दी उसे मैं आपको सुनाऊँगा।"

छप्पय

ज्यों समाधिमहँ सिद्ध मिलैं सागरमहँ सरिता।
त्यों ह्वैकें आसक्त मिलीं मोमें व्रजबनिता॥
मोमें मन फँसि गयो सकल तन सुधि बुधि भूलीं।
नहिँ समुझीं सरवेश रमन सुन्दर लखि फूलीं॥
परम धन्य जगमहँ भईं, मोमें करि आसक्ति अति।
तुमहू उद्धव! त्यागि सब, भजो मोइ पाओ सुगति॥

—:※:—

हैं। इसी प्रकार जगत् की जितनी स्थूल सूक्ष्म वस्तुएँ हैं, वे स की सब भगवान् से परमात्मा से ब्रह्म से प्रकट हुई हैं। अन्त मे उन्हीं में सब का पर्यवसान हो जायगा। जो इस बात को समझ लेता है, उसका द्वैत भाव नष्ट हो जाता है और वह शोक मोह से छूट कर संसार सागर से पार हो जाता है। '

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब उद्धव जी ने कर्म त्याग के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव ! मेरे दो रूप हैं, एक शब्द ब्रह्म, दूसरा पर ब्रह्म, ये भिन्न भिन्न नहीं हैं। परब्रह्म से ही शब्द ब्रह्म की अभिव्यक्ति हुई है। समस्त प्राणियों के जीवनदाता ईश्वर ही शब्द रूप से प्रकट होते हैं।

उद्धवजी ने कहा—"भगवन् ! मैं इसे समझा नहीं, मुझे स्पष्ट समझावें।"

भगवान् बोले—अच्छा, देखो, इसे ऐसे समझो। हम जो वाणी से शब्द बोलते हैं कैसे बोलते हैं।"

उद्धवजी ने कहा—"महाराज ! मन में जो जो बात आयी, वाणी से बोल दी।"

भगवान् ने कहा—"नहीं, इसे और सूक्ष्म रूप से विचार करो। वाणी चार प्रकार की होती हैं, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। हम जो शब्द बोलते हैं, बातें करते हैं, वह वैखरी वाणी में करते हैं।"

उद्धवजी ने पूछा—"फिर भगवन् ! परा, पश्यन्ती आदि कैसे बोली जाती हैं ?"

भगवान् बोले—"भैया, ये वाणी बोली नहीं जाती। इनकी अभिव्यक्ति होती है, अच्छा तुम एकाग्र चित्त से भली भाँति ध्यान लगाकर कोई भी शब्द बहुत शनैः संयमपूर्वक बोलो। क्या क्रिया होती है ?"

उद्धव जी ने कहा—"महाराज ! कौन-सा शब्द बोलूँ ?"

भगवान् बोले—"कोई भी बोलो, अच्छा, ओम् बोलो। किन्तु

सर्वथा उस पर ध्यान रखना।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर अत्यंत एकाग्र चित्त से उद्धवजी ओम् बोलने लगे।

भगवान् ने पूछा—"यह शब्द कहाँ से उठा?"

उद्धवजी ने कहा—'भगवन्! बोलते समय मेरा पेट लचता है इसलिये ऐसा प्रतीत होता है, कि यह शब्द नाभि से उठा।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"हाँ सत्य है, तुमने मन को एकाग्र किया है, किन्तु अभी अति सूक्ष्म नहीं हुआ और ध्यान पूर्वक देखो।"

उद्धवजी बड़ी देर तक ध्यान करते रहे बार बार 'ओ' शब्द को मन ही मन बोलते रहे फिर चौंक कर बोले—"ऐसा लगता है, प्रभो! कि कोई वायु नाभि से नीचे स्पर्श कर रही है, ठोकर देकर किसी वस्तु को नाभि की ओर ढकेल रही है।

खिल खिलाकर हँसते हुए भगवान् बोले—"हाँ! अब तुम्हारा मन सूक्ष्म हुआ। जिसे तुम ठोकर देना कहते हो वही पश्यन्ती भाषा है। प्रथम उसकी अभिव्यक्ति गुदा में रहने वाले चार दल कमल आधार चक्र मे होती है। वहाँ अति सूक्ष्म शब्द होता है। जैसे कमल तन्तु को कोई सिरीस पुष्प की सींक से तनिक छूदे। उसके छुआने से शब्द तो होगा ही किन्तु सर्वसाधारण को उसकी प्रतीत न होगी। जैसे सहस्र कमल के पत्ते एक के ऊपर एक रखे है। एक अत्यंत पैना सूआ उसमे भोंक दो, तो तुरन्त सबको छेद कर बाहर निकल आवेगा। अब आप से पूछा जाय, कि एक पत्ते को छेदने मे कितना समय लगा?" तो आप चुप हो जायगे, कहेंगे—"कुछ भी समय नहीं लगा।" किन्तु बात ऐसी नहीं है। सूआने जितने पत्ते थे एक के पश्चात् दूसरे मे दूसरे के पश्चात् तीसरे में ऐसे क्रमशः प्रवेश किया। एक पत्ते को छेदन करने में समय भी लगा, किन्तु आप उस समय को व्यक्त नहीं कर सकते,

इसी प्रकार आधार चक्रमें जो शब्द हुआ वह हुआ तो अवश्य, किन्तु अति सूक्ष्म होने से आप उसे सुन नहीं सकते । सब को जीवनदान करने वाले परमेश्वर ही परा वाणी से युक्त होकर प्रथम आधार चक्र में प्रविष्ट हुए । फिर वे नाभि में स्थित आठ दल वाले मणि पूरक चक्र मे आये । वहाँ मनोमय सूक्ष्म रूपसे उनकी अभिव्यक्ति होती है, तभी उस वाणी का नाम पश्यन्ती पड़ता है, वह मन के द्वारा देखी जाती है कोई शब्द बोलिये पेट तनिक लच जायगा । अर्थात् परावाणी से स्थूल होने के कारण वह जानी जा सकती है । फिर वह शब्द कण्ठ के मूल मे स्थित सोलह दलवाले विशुद्ध चक्र मे आता है । अ, क, ख, ग, घ, ङ, ह, ये तो बोलते समय स्पष्ट कण्ठ से निकलते ही हैं । अर्थात् इनके बोलते समय तो कण्ठ पर विशेष बल पड़ता है, सभी शब्द नाभि से उठकर कण्ठ के मूल में विशुद्ध चक्रमें मध्यमा वाणी के रूप में परिणत हो जाते हैं । उनका स्थूल ढाँचा बन जाता है । मूलाधार में बीज रूप से थे, मणिपूरक मे अंकुर हुआ, विशुद्धिचक्र (कण्ठ देश) में वृक्ष बन गया जहाँ मुख से वैखरी वाणी में व्यक्त हुआ मानों फलीभूत हो गया । यह क्रम ऐसे रहा कि प्रथम परारूप में अति सूक्ष्म । पश्यन्तीरूप में सूक्ष्म । मध्यमा रूपमे स्थूल और वैखरी रूपमें अतिस्थूल । दृष्टान्त से इसे यों समझिये । यज्ञों में दो लकड़ियों को मथकर अग्नि निकाली जाती है । मथने के पूर्व उन दोनोंलकड़ियों में सूक्ष्म रूपसे अग्नि विद्यमान थी । उन लक ड़ियों में ही क्या आकाश मे ऊष्मा रूपसे सर्वत्र अग्नि है किन्तु वह व्यक्त नहीं है । दो लकड़ियों को बलपूर्वक मथा गया, वायुने उसमें सहायता की, तो दोनों लकड़ियाँ उष्ण हो गयी । उनमें ऊष्मा आ गयी । अब वह ऊष्मा ही मथते मथते चिनगारियों के रूप में व्यक्त हुई । उन चिनगारियों को रुई में रखकर बढ़ाया छोटे छोटे काठ रखकर प्रज्वलित किया । घृतकी आहुतियाँ ज्यों ही दी गयीं

त्यों ही उन्होंने प्रचण्ड रूप धारण कर लिया, सूक्ष्मसे स्थूल अग्नि हो गये। यह प्रकट अग्नि आकाश में ऊष्मा रूप से सर्वत्र व्यापक अग्नि से भिन्न नहीं है। उसी सूक्ष्म अग्नि ने स्थूल रूप रख लिया है। इसी प्रकार परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी रूप से मेरी ही अभिव्यक्ति होती है। सर्व व्यापकरूप मे मैं ही परब्रह्म हूँ, जब व्यक्त हो जाता हूँ, तो शब्द ब्रह्म कहलाता हूँ। केवल वाणी ही नहीं जितने भी कर्म हैं सब मेरे ही कार्य हैं। सब की उत्पत्ति मुझ से ही है। चारों प्रकारकी वाणी मुझ से ही हुई है। हाथोंका कर्म उठाना धरना लेना देना, पैरोंका कर्म चलाना फिरना, गुदाका कर्म मल विसर्जन करना, नासिका का कर्म सूँघना आघ्राण करना, जिह्वाका कर्म रस लेना, आँखोंका विषय देखना, त्वचा इन्द्रियका विषय कठिन मृदुल शीत उष्णका स्पर्श अनुभवकरना, श्रवण इन्द्रियका कर्म अच्छे बुरे, सरस नीरस शब्दोंको सुनना, मनका विषय संकल्प करना, बुद्धिका विषय विचार करना, अभिमानका कर्म अहंकृति करना सूत्रात्मा महत्तत्वका विषय है सूक्ष्मसे महत्व करना। सत्वगुणका कर्ममें ज्ञान करना, रजोगुणका विषय है कर्मोंमें प्रवृत्त करना तथा तमो गुणका कर्म है निद्रा, आलस्य और प्रमादको पैदा करना। उद्धव! ये सब के सब मेरे ही कार्य हैं। मेरे ही द्वारा ये सब हो रहे हैं। मुझसे ही सम्पूर्ण संसारकी उत्पत्ति हुई है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! आपसे इस इतने बड़े संसारकी उत्पत्ति कैसे हुई?"

भगवान्ने कहा—"जब मेरी इच्छा रमण करने की हुई तब मैंने अपनी मायाका आश्रय लिया मायोपाधिक होनेसे ही इस निगुण ब्रह्माण्ड कमलका कारण हूँ। मैं आदि पु रूपही सबका जनक हूँ।

उद्धवजी बोले—"एक आदि पुरुष ?-अनेक रूपमें कैसे हुए।"

भगवान्ने कहा—"उद्धव ! मैं बार बार तो बता चुका हूँ आदि पुरुष पहिले एक ही था। सर्वव्यापक अग्निके समान वह अव्यक्त था। जब इसने मायाका आश्रय ले लिया तो कालकी गतिसे शक्तियोंका विभाग होनेसे यह आदि पुरुष परमात्मा ही नाना रूपोंमें भासने लगता है। उसीका नाम जगत् हैं।"

उद्धवजीने कहा—"जगत्के बन जाने पर भगवान् तो पृथक् रहे, जीव पृथक् रहा संसार पृथक् रहा।"

हँस कर भगवान् बोले—"उसे चाहे पृथक् कहलो या एक। दोनों ही भ्रम है, उसे एक अनेक कुछ कहते बनता नहीं। उसकी किसीसे उपमा भी नहीं दी जाती जगत् भी वही है परमात्मा भी वही है। वस्त्र सूतसे बनता है। उसके ताने में भी सूत बाने में भी सूत। ऊपर भी सूत नीचे भी सूत, किन्तु वस्त्रको सूत कोई नहीं कहता। सभी सूती वस्त्र ऊनी वस्त्र ऐसा कहतेहैं। उसे रंग दो तो रंगीन वस्त्र लाल रंग दो लाल वस्त्र पीला रंग दो पीला वस्त्र सिरमें बाँधलो पगड़ी, शरीरमें पहिनलो ऊँगरखी, नीचे बिछालो बिछौना, ऊपरसे ओढ़लो ओढ़ना। स्त्री सीकर पहिन ले तो उसीकी लँहगा संज्ञा हो जाती है, रंगकर ओढ़ले चूँनरी हो जाती है। है सबमें सूत ही सूत इसी प्रकार यह संसार उन्हीं भगवान्से बना है उन्हींमें यह ओतप्रोत है उन्हींमें प्रतीत हो रहा है। यह संसार एक वृक्षके सामन है और प्रवाह रूपसे सनातन है।"

उद्धवजीने कहा—"वृक्ष यह जगत् कैसे है भगवन् !

भगवान् बोले—"वृक्ष जैसे लकड़ीमय होता है, वैसे ही यह संसार कर्ममय है। वृक्षमें से काष्ठको निकाल दो, तो कुछ भी न रहेगा, इसी प्रकार संसारसे कर्मको निकाल दो तो संसार ही नष्ट हो जायगा। जैसे काष्ठसे ही वृक्षका अस्तित्व है वैसे ही कर्मसे जगत्का अस्तित्व है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन् ! वृक्ष तो बीजसे उत्पन्न होते हैं, इस संसार वृक्षका बीज क्या है, यह किससे उत्पन्न हुआ है ?"

भगवान् बोले—"पाप और पुण्य ये ही दो संसारको उत्पन्न करनेवाले बीज हैं। बीजको पत्थर पर डाल दो तो वह जमेगा ही नहीं, इसी प्रकार ज्ञानीकी दृष्टिमें पाप पुण्य है ही नहीं इसी लिये संसार उसे स्पर्श भी नहीं कर सकता। वह गुणोंमें वर्तमान होता हुआ भी गुणातीत बना विचरता रहता है। बीज उर्वरी भूमिमें ही उत्पन्न होकर शाखा, पत्र पुष्पादि अनेक रूप धारण करलेता है, उसी प्रकार मायामें ही ये दोनों बीज बढ़कर वृक्ष बन जाते हैं।"

उद्धवजीने कहा—"बीजमें पहिले जड़ें उत्पन्न होती हैं, तब अङ्कुर उत्पन्न होता है। इस संसार वृक्षकी जड़ें क्या हैं ?"

भगवान्ने कहा–जीवोंकी अनन्त वासनायें ही इस संसार वृक्षकी जड़ें हैं।"

उद्धवजीने कहा–वृक्षमें प्रथम अंकुर उत्पन्न होता है वही बड़ा मोटा होकर तना बन जाता है। इस संसार वृक्षका तना क्या है ?"

भगवान्ने कहा—सत्व, रज और तम ये तीन गुण ही संसार वृक्षके तने हैं। इन तनोंके ही आधार पर वृक्ष बढ़ता है। तनेको काट दो तो वृक्ष भी कट जाता है। इसी प्रकार तीनों गुणोंके सम-भावमें हो जाने पर प्रलय हो जाती है।"

उद्धवजीने कहा—"वृक्षमें तो बड़े बड़े गुद्दे- स्कन्ध- होते हैं। इस संसार वृक्षके स्कन्ध क्या हैं ?"

भगवान्ने कहा—"पृथिवी, जल, तेज वायु और आकाश ये ही इस संसार वृक्षके गुद्दे हैं। इन स्कन्धोंके कारण ही यह इतना बढ़ा है, विस्तृत हुआ है।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन् ! वृक्षकी बहुत–सी शाखायें होती

हैं। इस ससार वृक्षकी शाखायें क्या हैं। ?"

भगवान्‌ने कहा—"मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ ही इसकी शाखायें हैं। इन्हींसे यह सघन होता है।"

उद्धवजीने कहा—'भगवन्! वृक्षमे एक स्थूल एक सूक्ष्म और एक अति सूक्ष्म इस प्रकार तीन वल्कल होते हैं, इस स सार वृक्ष के तीन वल्कल क्या हैं ?"

भगवान्‌ने कहा—वात, पित्त और कफ ये ही इस स सार वृक्षके वल्कल हैं। सम्पूर्ण शरीर वायु, स्निग्धता और ऊष्मा इसीसे बनते लिपटे रहते हैं।"

उद्धवजीने कहा—"वृक्षमे तो बहुतसे पत्ते होते हैं इस ससार वृक्षके पत्ते क्या हैं ?"

भगवान्‌ने कहा—"ये जो चौरासी लाख योनियाँ हैं ये ही इस ससार वृक्षके पत्ते हैं। जैसे पत्ते गिर जाते हैं, फिर उत्पन्न हो जाते हैं वैसे योनियाँ एकके पश्चात् दूसरी दूसरीके पश्चात् तीसरी बदलती रहती हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! वृक्षकी जडोंमेसे रस निकल कर शाखा प्रशाखाओंमें सरसताका सचार करता रहता है। यदि वृक्षोंमें रस न निकले तो वे एक दिन भी जीवित न रहें सूख जायँ, इस ससारवृक्षका रस क्या है।"

भगवान्‌ने कहा—'उद्धव! शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये ही इस ससार वृक्षके रस हैं, इन्हींसे यह सरस हरा भरा बना रहता है यदि ये पाँच विषय न हों, तो ससार नीरस हो जाय, फिर इसमें कोई आकर्षण ही न रहे। इन्हीं विषयोंसे यह पल्लवित पुष्पित और फलवाला बना हुआ है।"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज वृक्ष पर तो फूल फल होते हैं, इस ससारवृक्षके फूल फल क्या हैं ?"

भगवान्‌ने कहा—"कर्मभोग ही इस वृक्षका फूल है। दुख

सुख ही दो कच्चे पके फल है। यह संसारवृक्ष साधारण नहीं अत्यंत विशाल है, सूर्यमण्डल तक फैला हुआ है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! वृक्षपर तो पक्षी घोसला बनाकर रहते हैं, इस संसार वृक्ष पर भी कोई पक्षी रहते हैं क्या ?"

भगवान्ने कहा—"हाँ जीव और ईश्वर दो पक्षी इस संसार वृक्षपर रहते है। उनमे एक फल खानेसे बँध जाता है, दूसरा अनशन रहनेके कारण विमुक्त बना रहता है। इस संसार वृक्षके कच्चे पके दो प्रकारके फल हैं। कच्चे फल खट्टे नीरस और कड़वे होते हैं, उनमे कहीं कहीं तनिकसी मिठास होती है उसीके लोभसे ये गृहस्थरूपी गीध उन्हे खाते हैं और दुख पाते हैं। जो पके पके सरस स्वादिष्ट फल होते हैं, उन्हे राजहंस रूप वनवासी यति संन्यासी त्यागी भक्तजन आनन्द के साथ खाकर तृप्त होते हैं। बोलो उद्धव! तुम गीध बनना चाहते हो, या राजहंस।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! जो आप बना दें। मेरे कहनेसे क्या होता है ?"

भगवान्ने आवेशके साथ कहा—"उद्धव! तुम तो राजहस ही हो। तुम इस मायामय संसारमें एकमात्र मुझे ही देखो, मुझे ही जानो मुझे ही पहिचानो। जो सद्गुरुओंकी उपासनासे इस संसारके रहस्यको समझ जाते हैं, वे ही इसके वास्तविक जाननेवाले कहलाते हैं। इस कर्ममय संसार वृक्षकी उत्पत्ति भोग और मोक्षके निमित्त है। अज्ञानी लोग भोगोंमे फँसकर चौरासीके चक्करमें फिरते रहते हैं। ज्ञानी पुरुष ज्ञानरूप खड्गसे इस संसारवृक्षको जडसे काटकर फेंक देते हैं।"

मेरी भक्ति ही खड्गपर शान चढ़ानेका यन्त्र है, उसी यन्त्र

पर उपासनारूप अनन्यभक्तिके द्वारा विद्यारूप कुठारको तीक्ष्ण कर लो। फिर धीर और अप्रमत्त होकर जीवभावका उच्छेद कर दो। अपने यथार्थ स्वरूपको पहिचान कर, फिर उस विद्यारूप अस्त्रको भी त्याग दो। समस्त कर्मोंसे मुक्त होकर निर्द्वंद निर्भय बन जाओ। गुणातीत होकर कर्मोंके बन्धनोंसे छूट जाओ।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! तीनों गुण तो अनादि हैं, आत्मा के साथ लगे हैं, इन गुणोंसे मुक्त कैसे हो जायँ?"

भगवानने बातपर बल देते हुए कहा—"नहीं यह बात नहीं है। सत्व, रज और तम ये आत्माके गुण नहीं हैं, ये तो बुद्धिके गुण हैं। परमात्मा तो बुद्धिसे परे हैं। अतः ये तीनों गुण जीते जा सकते हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! ये तीनों गुण कैसे जीते जायँ?"

भगवान्ने कहा—"देखो, ऐसा तो कोई भी मनुष्य नहीं कि जिसमे तीनों गुण न हों। किसीमें किसी गुणकी अधिकता होती है, किसीमें किसीकी। जो घोर तमोगुणी हैं, उनका सत्वरज दब जाता है इसी प्रकार रजोगुणियोंका सत्व तम दब जाता है। साधकको चाहिये, कि पहिले सत्वगुणकी वृद्धि करे। सत्वगुणकी वृद्धिसे रजोगुण और तमोगुण स्वतः ही जीते जा सकते हैं। फिर शुद्ध सत्वके द्वारा मिश्रित सत्वगुण को शान्त करे। अब विशुद्ध सत्व ही रह जायगा। जब वृत्ति शुद्ध सत्वगुण प्रधान हो जाती है, तो उसमे मेरी भक्ति उत्पन्न होती है।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! सत्वगुणकी वृद्धि हो कैसे?"

भगवान् बोले—'सत्वगुणकी वृद्धि सात्विक वृत्तियोंके सेवनसे होती है। सात्विक आहार हो सात्विक विहार हो,

सात्विक लोगोंका संग हो, सात्विक वेष भूषा हो, सात्विकी वृत्ति हो, सात्विकी प्रवृत्ति हो इन सबसे भक्तिरूप जो मेरा परम धर्म है उसमे प्रवृत्ति होती है।"

उद्धवजीने पूछा—आपके भक्तिरूप धर्ममे प्रवृत्त होनेका फल क्या है?"

भगवान् बोले—"उद्धव! जब सत्वगुणकी अभिवृद्धि हो जाती है, तो उस सर्वोत्तम धर्मसे अपने आप ही रजोगुण और तमोगुणका नाश हो जाता है। जब रज और तमका नाश हो गया, तो फिर उससे उत्पन्न होनेवाले काम, आसक्ति, लोभ, अशान्ति, विषयलोलुपता, प्रमाद, आलस्य, निद्रा व्यर्थ चेष्टा आदि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ भी शीघ्र नष्ट हो जाती हैं। उद्धवजीने पूछा—गुणोंके आविर्भावके कारण क्या हैं, कैसे सात्विक राजस तामस गुणोंका प्रादुर्भाव होता है।"

भगवान्ने कहा—गुणोंके प्रादुर्भावके अनेकों कारण हैं, जिनमें दश मुख्य बताये हैं।"

प्रथम कारण तो शास्त्र है। तुम जैसे शास्त्रोंका श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन करोगे वैसे ही गुणोंका प्रादुर्भाव होगा। वेदोंमे तीनों गुण हैं। बहुतसे शास्त्र सत्व प्रधान हैं, बहुतसे रजोगुण प्रधान हैं और बहुतसे तमोगुण प्रधान हैं। सत्वगुणके शास्त्रोंके पढनेसे आत्मज्ञानका पूजा पाठ, जप तपमें प्रवृत्ति होती है। रजोगुणी शास्त्रोंसे यश, वैभव राजसी ठाठ बाटके यज्ञोमे प्रवृत्ति होगी और तमोगुणके शास्त्रोसे मारण, मोहन, उच्चाटन तथा अन्यान्य हिंसा प्रधान यज्ञ यागोंमें प्रवृत्ति होगी।

दूसरा कारण यह है अन्न पान—मनुष्य जैसा अन्न खायगा, जैसा जल पीयेगा उसका वैसा ही मन बनेगा। वैसी ही वृत्ति बनेंगी। सात्विक अन्नपानसे सात्विकी वृत्ति बनेगी

राजस तामससे राजसी तामसी। अन्नपान ही प्राणियोंका जीवन है।

तीसरा कारण कुटुम्ब है। माता, पिता भाई बन्धु जिस प्रकृतिके होंगे वैसा ही प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ेगा। कहीं कहीं इसका अपवाद भी होता है, प्रह्लादजी पर उनके कुटुम्बियोंका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु सामान्य नियमसे विशेष नियम भिन्न होता है सामान्य नियम यही है, कि जैसे कुटुम्बवाले होंगे वैसे ही गुणोंका प्रादुर्भाव होगा।

चौथा कारण देश है। 'जैसा देश वैसा वेष' यह कहावत प्रसिद्ध ही है। सात्विक देश होगा, तो लोगोंको सात्विकी प्रवृत्ति होगी। राजस् तामस् देश होंगे, तो राजसी तामसी वृत्ति होगी। तभी तो स्मृतिकारोंने विदेश यात्राके विषयमें विशेष रूपसे विवेचन किया है, कि समुद्र पार यात्रा न करो। अपने देशमें अङ्ग वङ्ग कलिङ्गादि कीकट देश हैं, वहाँ यदि तीर्थयात्राके अतिरिक्त समयमें जाना हो तो फिरसे संस्कार कराओ। देशका प्रभाव पड़े विना रहता नहीं। उष्ण देशके लोग कैसे भी आचार विचारके हों शीत प्रदेशमें जानेसे उनके आचार विचारमें शिथिलता आ ही जाती है।"

पाँचवाँ कारण है काल। पाँचवाँ यही मुख्य कारण है। बलाबलका कारण काल ही है। सत्ययुगमें सबकी सात्विकी प्रवृत्ति होती है। त्रेतामें राजसी। द्वापरमें राजसी और कुछ कुछ तामसी और कलियुगमें तो अच्छे अच्छे लोगोंकी वृत्ति तामसी हो जाती है। न कोई सिद्ध बचता है न योगी, न सत्क्रियाओंको करनेवाला। सभीको कलिकाल दबोच देता है। सभी विवश होकर कलिकालके अधीन हो जाते हैं। गरमियोंमें जिन ऊनके कपड़ोंको छूनेसे घृणा होती है, जाड़ेमें वे ही कितने प्यारे लगते हैं। जिस अग्निसे गरमियोंमें दूर दूर रहते

हैं जाड़ेमें वह कैसी प्यारी लगती है, कि हृदयसे चिपटा लें। इसलिये गुणोंके प्रादुर्भावका प्रधान कारण काल है।

छटा कारण है कर्म। जैसा कर्म करोगे वैसे गुणोंका प्रादुर्भाव होगा। सात्विक कर्म करोगे, तो वृत्ति सात्विकी बनेगी। राजस् तामस् कर्मोंसे राजसी तामसी, अतः सत्वगुणकी अभिवृद्धिके निमित्त कर्म करने चाहिये।

सातवाँ कारण है, जन्म। जैसे माता पितासे जन्म होगा, जैसे समयमें जन्म होगा वैसी ही प्रकृति होगी। रज वीर्यका शरीर पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। पिताके वीर्यसे और माताके रजसे ही तो शरीर बनता है। अतः कभी कभी तो सात सात पीढ़ीका प्रभाव इसमें आ जाता है। सात्विक वंशमें जन्म ग्रहण करनेसे प्रायः वृत्ति सात्विकी होती है। राजस् तामस्में जन्म ग्रहण करनेसे राजसी तामसी।

आठवाँ कारण है ध्यान। जैसे लोगोंका निरन्तर ध्यान करोगे वैसी ही वृत्ति बन जाती है। योगियोंका ध्यान करनेसे मन शुद्ध होता है कामिनियोंका विषयियोंका ध्यान करनेसे मन काममय होता है। गर्भाधानके समय माता जिसका ध्यान करेगी गर्भस्थ बालकपर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहेगा। सात्विक ध्यानसे सात्विकी वृत्ति होगी इतर ध्यानसे इतर वृत्ति। अतः सत्विकी अभिवृद्धि करनेवालेको सदा सात्विक पुरुषोंका सात्विक वस्तुओंका ही ध्यान करना चाहिये। सात्विक देवताओंका ध्यान करोगे वे सत्वको बढ़ावेंगे और यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत पिशाच तथा अन्यान्य राजस तामस देवताओंका ध्यान करोगे तो वे अपने गुणको बढ़ावेंगे।

नववाँ कारण है मन्त्र। जैसा मंत्र होगा वैसा गुण बढ़ेगा। सात्विक मंत्रोंके जपसे भावोंमें सात्विकता आवेगी, राजस तामस् मंत्रोंसे रजोगुण तमोगुणका आधिक्य होगा। मंत्रोंका

प्रभाव परम्परासे पड़ता है। कुछ धूर्त लोग लोगोंको ठगनेके लिये मंत्रोंका व्यापार करते हैं। ये इधर उधरसे सुनकर पढ़कर दश बीस मंत्र यादकर लेते हैं। आप जो भी आता है उसे किसीको रामका मंत्र दे दिया, किसीको कृष्णका, किसीको चडीका, किसीको कालीका, किसोको भैरवका। इन मंत्रोंका कोई प्रभाव नहीं होता। उन देनेवालोंकी आजीविका चलती है और देने लेनेवाले दोनों ही नरकसे मार्गको सीधा करते हैं। इसलिये मन्त्र बहुत विचारकर सात्विक गुरुसे, जिसे वंश परम्परासे प्राप्त हो-उसीसे लेना चाहिये। और सत्वकी वृद्धिवाले को शुद्ध सात्विक मंत्र लेने चाहिये। रुद्र, भैरव, भूत, प्रेतोंके मंत्र सात्विक वृत्तिवालेको न लेने चाहिये।"

दशवाँ कारण है संस्कार जीवनमें संस्कारका बडा प्रभाव पडता है। तभी तो द्विजोंके यहाँ षोडश संस्कारोंके ऊपर बडा बल दिया गया है। जैसे सस्कार होंगे वैसे ही भाव बनेंगे।

इस प्रकार गुणोंके प्रादुर्भावमें शास्त्र, जल, कुटुम्ब, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मंत्र और संस्कार ये ही प्रधान दश कारण हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! सात्विक, राजस और तामस कर्मोंकी कोई तालिका तो है नहीं कृपा करके इनकी कोई हमें मोटीसी पहिचान बता दें। हम समझ जायँ, कि ये कार्य सात्विक हैं ये राजस ये तामस।"

भगवान्ने कहा—"देखो, इनकी मोटी पहिचान यह है, कि जो ज्ञानी हैं वयोवृद्ध ज्ञानवृद्ध हैं। वे जिनकी प्रशंसा करें वे जिन्हें सात्विक कहकर ग्रहण करें, वे सब काम तो सात्विक हैं। जिनकी वे निन्दा करें वे तामस और जिनकी उपेक्षा कर दें वे सब काम राजस हैं।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! यद्यपि मुनि तो गुणातीतकी

प्रशंसा करते हैं। वे बारम्बार कहते हैं तीनों गुणोंसे ऊपर उठना चाहिये।"

भगवान् बोले—"भैया! गुणातीत होना कोई खेल थोड़े ही है। गुण कोई पहिननेके वस्त्र तो हैं नहीं, कि उतारकर फेंक दिये। अरे, भैया, वे तो अन्तःकरणमें चर्मकी भाँति सटे हुए हैं; उन्हें तो शनैः शनैः हटाना होगा। जब तक आत्मतत्वका अपरोक्ष ज्ञान न हो जाय, जब तक स्थूल सूक्ष्म दोनों ही देहों तथा उनके कारण भूत गुणोंकी भलीभाँति निवृत्ति न हो जाय। तब तक सत्वगुणकी वृद्धिके लिये ही सतत प्रयत्न करना चाहिये। सात्विक शास्त्रोंका अध्ययन करे। सात्विक प्रकृतिके लोगोंके समीप बैठे उठे। सात्विक कर्मोंको करे, सात्विक आहार व्यवहार रखे। निरन्तर सत्वका सेवन करनेसे धर्मकी वृद्धि होगी और फिर उससे ज्ञान होगा। ज्ञान होनेसे त्रिगुणातीत हो जायगा।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! सत्व भी तो एक गुण ही है। गुणके सेवनसे गुणातीत कैसे हो जायगा।"

भगवान्ने कहा—"देखो, जैसे पैरमें सड़ा काँटा लग गया, तो दृढ नया एक काँटा और लाते है। जहाँ काँटा लगा होता है वहाँ उस काँटेको चुभोते हैं। वह सुदृढ़ काँटा उस पैरमें लगे काँटेको निकाल देता है, तो फिर दोनोंको ही फेंक देते हैं। वनमें बाँसोंकी रगड़से अग्नि उत्पन्न होती है। उत्पन्न होकर अग्नि बाँसोंके वनको ही जलाती है। सब जल जानेपर वह शान्त हो जाती है। इसी प्रकार सत्वगुणकी वृद्धिसे रजतम नष्ट हो जाते हैं। निरन्तर सत्वके सेवनसे ज्ञानरूपी अग्नि उत्पन्न होती है, फिर वह सत्वको भी जलाकर गुणातीत स्थितिको प्राप्त करा देती है। अपनेसे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा गुणोंके सम्पूर्ण कार्यका लय हो जाता है। बात यह है कि यह

देह गुण वैपम्यसे ही तो उत्पन्न हुआ है, इसलिये पूर्ण सत्वका वृद्धिसे जहाँ ज्ञान हुआ कि तीनों ही गुण समाप्त हो जाते हैं। अतः त्रिगुणातीत होनेके लिये सत्वका ही सेवन करना चाहिये। विपयोका सेवन कदापि न करना चाहिये।"

इसपर उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! एक मुझे बड़ी भारी शङ्का है। मैंने सबको देखा है सभी सांसारिक विपयोंको दुःखमय बताते हैं। मूर्खसे लेकर बड़े बड़े विद्वान् तक एक स्वरसे काम की निन्दा करते हैं, किन्तु उसे व्यवहारमें लानेवाले विरले ही होते हैं। सभामें तो कामकी इतनी निन्दा करेंगे, इतनी निन्दा करेंगे कि सुननेवालोंके रोंगटे खड़े हो जायँगे। नरकका भय दिखावेंगे, शास्त्रोंकी लम्बी चौड़ी व्याख्या करेंगे। व्यभिचारी स्त्री पुरुपोंको नरकमें कैसे कैसे दुःख दिये जाते हैं। स्त्री पुरुष नंगे करके लोहेकी तप्त मूर्तियोंके कैसे आलिङ्गन कराये जाते हैं, इन बातोंकी विशद व्याख्या करेंगे, किन्तु स्वयं वे कामके चक्करमें पड़े देखे गये हैं। जैसे कुत्ता कुतियोंके पीछे पागल फिरता है, जैसे गधा गधीके पीछे उन्मत्त हो जाता है, वह काटती है दुलत्ती झाड़ती है, फिर भी पीछा नहीं छोड़ता। जैसे बकरा बकरियोंके पीछे फिरता है, वैसे ही वे उपदेशक कामिनियोंके दास बने रहते हैं। जिन विपयोंकी वे इतनी निन्दा करते हैं, फिर उनको ही क्यों भोगते रहते हैं? संसारी विपयोंमें ऐसी कौनसी बात है, कि दुख पाते हुए भी लोग उन्हें नहीं त्यागते। बुराई करते हुए भी स्वयं उनका परित्याग नहीं कर सकते। इस विपयमें ज्ञानी मूर्ख सभी एकसे दिखायी देते हैं। आज तक कोई भी ऐसा नहीं मिला। जो यह कह दे, कि विपयोंसे हमारी तृप्ति हो गयी या विपयोंसे हमें सुख ही सुख मिला। क्षणभरको सुखाभास भले ही प्रतीत हो, नहीं तो इनके उपभोगमें आदि अन्तमें दुःख ही दुःख है। लोगोंकी इन अनित्य क्षणभंगुर सुखोंमें ऐसी

अन्यथा बुद्धि क्यों हो गयी है ?

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—"उद्धव ! यही तो मेरी मायाका चक्कर है। जो न होते हुए भी दिखायी दे। जो वास्तवमें दुख है वह सुख दिखायी दे, जो सर्वथा अनित्य है उसमें नित्यताका भान हो। अज्ञानवश ये अनेकों वासनायें हृदयमे उत्पन्न होती रहती हैं।

उद्धवजीने पूछा—"प्रभो ! अन्त.करणमें वासनायें कैसे और क्यों उत्पन्न होती हैं। इनका क्रम क्या है। विषय अन्त करण को कैसे जकड लेते हैं।"

भगवान्ने कहा—"अच्छी बात है उद्धव ! मैं तुम्हें इस परम गूढ रहस्यको समझाता हूँ, इसे तुम सावधानीके साथ श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! भगवान्ने जैसे अन्त करणमे वासनाओंके उठनेका क्रम बताया, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

गुन ही बन्धन हेतु प्रथम रजतमकूँ त्यागे।
सत्ववृद्धितैं भक्ति होहि श्रद्धा हिय जागे॥
आगम, जल अरु कुटुम, देश, संस्कार करम पुनि।
काल, जनम अरु ध्यान मन्त्र ये कारन दश सुनि॥
तत्वज्ञान होवै नहीं, सेवै तब तक सत्वकूँ।
ज्ञान अगिनि अज्ञान भखि, प्राप्त करै एकत्वकूँ॥

—꥟—

अन्तःकरणमें विषय वासनाकी प्रवृत्ति

(१२५५)

अहमित्यन्यथा बुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः॥*

(श्रीभा० ११स्क०१३ अ० ९श्लो०)

छप्पय

उद्धव बोले—प्रभो ! सबहिँ मानें विषयनि दुख।
फिरि क्यों तिनिकूँ भजें करें तिनिमें अनुभव सुख॥
हँसि बोले भगवान अहंता तें मूरख जन।
फँसे रजोगुन माँहिँ कामनावश होवे मन॥
कबहुँ विवेकी हू फँसें, किन्तु होहिँ आसक्त नहिँ।
चित्त समाहित करन हित, करे प्रान संयम नितहिँ॥

चित्त जब रजोगुणके रंगमें रँग जाता है तो लोभ हो जाता है। रजोगुणकी यह मोटी पहिचान है। भगवान् भजनमें लोभ पड़ना तो निर्गुण अवस्था है, किन्तु और संसारमें जिन्हें पाते हैं, उनमें लोभ पड़े तो समझ लो रजोगुणकी वृद्धि है

---

*श्रीभगवान् उद्धवजीसे कह रहे हैं—उद्धव ! प्रमाद पुरुषके हृदयमें पहले तो अहंताकी अन्यथा बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, उसी कारण वैकारिक मन घोर रजोगुणकी ओर प्रवृत्त हो जाता है। (उसीके कारण होकर न करने योग्य कामोंको करता है)

गयी। कोई सात्विक प्रकृतिके साधक हैं, उनसे किसीने शिष्य बननेकी प्रार्थना की, उन्होंने उसे दीक्षा दे दी। उसने धनसे मनसे सेवा आरम्भ कर दी। धन आया तो उससे आश्रम बनने लगा। तृष्णाका तो कहीं अन्त नहीं। जब तक ईंट पत्थरको आरम्भ न करो तभी तक संतोष है जहाँ, आरम्भ हुआ कि फिर वह बढ़ता ही जाता है। धनकी आवश्यकता हुई, दूसरेके कान फूँके। अब परमार्थ लक्ष्यच्युत हो गया। धनके लोभसे पात्र अपात्र सभीके कान फूँकने लगे। समझ लो साधक अपने लक्ष्यसे च्युत हो गया। रजोगुणने आकर उसके हृदयमें अपनी कुटी बना ली। कर्मोंमें प्रवृत्ति बिना रजोगुणकी प्रबलताके होती ही नहीं। लोभ उसकी पहिचान है। लोभी कभी परमार्थ दृष्टिसे कोई काम न करेगा। उसके सब काम स्वार्थ बुद्धिसे आरंभ होंगे। किसीको एक फल भी देगा तो तुरन्त सोच लेगा—इससे मेरा क्या कार्य सिद्ध होगा बिना स्वार्थके वह किसीसे बात भी न करेगा। रजोगुणके बढ़ने पर विषयोंके भोगनेका लालच उठता रहता है। चित्त चंचल बना रहता है, कहाँसे धन मिले। कैसे लोग मेरी ओर आकर्षित हों, कैसे मेरा ठाठ-बाट बने। कैसे अधिक लोग मेरा सम्मान करें। पाप करनेसे भी स्वार्थ सिद्ध होता हुआ दिखायी दे तो छिपकर उस पापको करता है। छिपकर पाप करनेसे अन्तरात्मा उसे टोंचती रहती है, इसलिये वह सदा अशान्त बना रहता है। उसे सबसे शंका बनी रहती है कोई मेरे पापको पहिचान न ले। सत्वगुणकी वृद्धिमें अन्तःकरणमें और इन्द्रियोंमें प्रकाश सा उत्पन्न होने लगता है, ज्ञानका स्रोत फूट पड़ता है और विषय तुच्छ दिखायी देते हैं। संसारिक प्रवृत्ति रजोगुणमें ही होती है। तभी विषय-भोग अच्छे लगते हैं। पतङ्गकी तरह अग्निको जानबूझकर आलिंगन करता है और

उससे दुख पाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! उद्धवजीको समझाते हुए भगवान् कहते हैं—"उद्धव! जब मनमें सत्वगुण आता है, तब पुरुष ज्ञानकी ओर बढ़ता है, सब भूतोंमें एक ही आत्माका अनुभव करता है। मनसे जिसे हम प्यार करेंगे, तो वह भी हमसे मनसे प्यार करेगा, क्योंकि मन तो एक ही है। सत्वगुणके बढ़नेपर सब उससे प्रेम करते हैं। सब उसके प्रति श्रद्धाके भाव रखते हैं। यदि इतनेपर साधक सम्हला रहा, छोटे बड़े सबमें उसी आत्माको देखता रहा तब तो समझो वह बड़े त्रिगुणातीत अवस्थाकी ओर आगे बढ़ रहा है। किंतु जहाँ उसे अभिमान हो गया कि मैं ईश्वर हूँ, सिद्ध हूँ, समर्थ हूँ, तहाँ समझ लो उसकी बुद्धि अन्यथा हो गयी, उसमें रजोगुण रूपी चोरने प्रवेशकर लिया। अब सत्वगुण दब जाता है, रजोगुणका प्राबल्य हो जाता है। मन विषयोंकी ओर आकर्षित हो जाता है। विषय तो मनसे लिपटना चाहते ही हैं। रजोगुणी मन भी विषयोंसे लिपटनेको उतावला होजाता है। चित्त जहाँ रजोगुणके रंगमें रँगा तहाँ उसमें अनेकों संकल्प विकल्प उठने लगते है, नाना विधान बनने लगते हैं। परमार्थमे भी सर्वत्र स्वार्थका साम्राज्य होने लगता है। पद-प्रतिष्ठाकी वृद्धिके लिये नाना प्रकारकी कलायें खेली जाती हैं। निरन्तर गुणोंके चिन्तनसे सब ओर मनको दौड़ाना पड़ता है, किससे मेरा यथार्थ सिद्ध होगा, किससे मेरी कामनाओंकी पूर्ति होगी। जिनसे आशा न करनी चाहिये उनसे वह मन्दमति आशा करता है और कामनाओंके कारण उसे पग पगपर दुःसह अपमान सहन करना पड़ता है। यह रजोगुणका ऐसा प्रबल प्रवाह है कि इसमें जो पड़ा वह बह गया, फिर उसके

उवरनेकी आशा अत्यन्त ही न्यून रह जाती है। गुण प्रवाहमें पतित होनेसे वह अपनी इन्द्रियोंपर संयम करने में सर्वथा असमर्थ हो जाता है, अजितेन्द्रिय बन जाता है, कर्तव्याकर्तव्यका उसे विवेक नहीं रहता। कुत्सित कामनाओंके कारण कृपण हुआ कष्टप्रद कर्मोंको करता रहता है। उनका परिणाम दुखद होता है। उद्धव! तुम्हीं सोचो प्रवृतिमे कभी किसीको सुख हुआ है। मैंने अवतार लेकर भी यदि प्रवृत्ति की है तो उसमें दुखद अभिनय ही दिखाया है। रामावतारमे जानकीके पीछे कितने क्लेश सहन करने पडे। हमको क्लेश तो होते ही क्या थे, किन्तु उस चरितको दिखाकर यह सिद्ध किया कि प्रवृत्तिमें पडकर ईश्वरोंको भी क्लेश सहने पडते हैं अल्प-बुद्धियोंकी तो बात ही क्या? रजोगुणमें जो फँसेगा वह चाहें साधु हो, महात्मा हो, सिद्ध हो, समर्थ हो अथवा ईश्वर ही क्यों न हो उसे क्लेश सहने पडेंगे, अवश्य सहने पडेंगे। रजोगुण और तमोगुण ये खींचकर घोर संसारकी ओर पटक ही देते हैं।"

उद्धवजीने कहा—"तब तो भगवन्! इनसे कोई बच ही नहीं सकता। यह गुण प्रवाह तो चलता ही रहता है। ऐसा कोई नहीं है जो तीनों गुणोंसे बचा हो। कैसा भी विवेकी क्यों न हो, तब तो रजोगुण तमोगुण उन्हे भी पछाड देंगे?"

भगवान्ने कहा—"हाँ उद्धव! यह सत्य है कि तीनों गुणोंका थोड़ा बहुत प्रभाव सबपर पडता है। कभी कभी परम विवेकी पुरुष भी रजतमसे विक्षिप्त चित्त हो जाते हैं। किन्तु उनका विवेक सर्वथा ढक नहीं जाता। विषयके सम्मुख आते ही क्षण भरको उनकी बुद्धि विचलित हो जाती है, किन्तु फिर अपने विवेकके द्वारा सावधानता पूर्वक चित्तको

समाहित कर लेते हैं। उनमें नितान्त आसक्त नहीं हो जाते। उसके परिणामको समझकर उससे उपरत हो जाते हैं ?"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज ! चित्तमें कभी ऐसी चंचलता आ जाय, मन विक्षिप्त हो जाय, तो क्या करना चाहिये ।"

भगवान्‌ने कहा—"जिस विषयमें मन लग जाय, पहिले तो उसमें दोष दृष्टि करनी चाहिये, कि इस विषयके सेवनसे हमें क्या क्या हानियाँ होंगी। फिर सावधान होकर उस विषयकी चिन्ताको त्याग दे। उस विषयको मनमें आने ही न दे। बार बार उसे हटावे। नियत समय पर आसन मारकर शनैः शनैः प्राणायामके द्वारा प्राणोंका संयम करे। आसनको जीतकर चित्तको उस विषयसे हटाकर मुझमें लगावे और निरन्तर दृढ़ताके साथ योगका अभ्यास करे। चित्त स्वभावसे विषयों की ओर जाता है और विषय उसे कसकर पकड़ लेते हैं। योगाभ्याससे शनैः शनैः चित्तको हटावे। इसीका नाम योग है। इसकी दीक्षा मुझसे सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमारने ली थी। उन चारों भाइयोंको मैंने इस योगकी दीक्षा शिक्षा दी थी।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज ! मैं तो सदा आपकी सेवामें ही रहता हूँ, मैंने तो कभी आपको सनकादिकोंको दीक्षा देते देखा नहीं। हाँ, मैं जब आपकी आज्ञासे ब्रज चला गया था, तब संभव है आपने चारों कुमारोंको दीक्षा दी हो।"

भगवान्‌ने कहा—"अरे भाई ! मैंने इस कृष्णावतारमें उनको दीक्षा नहीं दी। ब्रह्मलोकमें एक दूसरे अवतारसे दीक्षा दी थी ?"

उद्धवजीने पूछा—"तो भगवन ! आपने किस रूपसे सनकादिकोंको इस योगकी दीक्षा दी। कब दी, कैसे दी ? इसे मेरी

सुननेकी बड़ी इच्छा है। यदि आप मुझे अधिकारी समझें तो मेरे प्रश्नोंका उत्तर दें और उस योगकी शिक्षाको मुझे भी सुनावें।

भगवान्ने कहा—"उद्धव ! मैंने सनकादिकोंको हंस रूपसे ब्रह्मलोकमें बहुत पहिले इस योगकी शिक्षा दी थी। उन परम त्यागी विरागी बाल ब्रह्मचारी कुमारोंके ही प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये मुझे परम शुभ्र हंसावतार लेना पड़ा। उसी अवतारसे मैंने कुमारोंको उपदेश दिया। उन्होंने प्रश्न तो पूछा था अपने पिता ब्रह्माजीसे, किन्तु वे उनके प्रश्नोंका उत्तर दे नहीं सके, तब मुझे अवतार लेना पड़ा।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन् ! ब्रह्माजी तो वेद गर्भ कहे जाते हैं, समस्त ज्ञानके वे भंडार हैं। उनके चारों मुखोंसे चारों वेदोंका प्रादुर्भाव हुआ है, ऐसे वेदमय ब्रह्मा भी जिस प्रश्नका उत्तर न दे सके, वह प्रश्न क्या है। भगवन् ! आजके उपदेशकोंसे कैसा भी प्रश्नकर दो, वे चाहे प्रश्न को समझें या न समझें उसका तुरन्त कुछ न कुछ उत्तर दे ही देंगे, जिससे किसीको उनके सर्वज्ञ और ज्ञानी होनेमें संदेह न हो। अपने पुत्रोंके पूछनेपर भी ब्रह्माजी जब उत्तर न दे सके होंगे, तब तो उनकी बड़ी हँसी हुई होगी। कृपा करके इस सम्वादको मुझे अवश्य सुनावें।"

भगवान् बोले—"उद्धव ! जो लोग दम्भी होते हैं, वे झूठ सत्यका विचार नहीं करते, अपनी पद प्रतिष्ठाकी रक्षाके लिये वे असत्य भी बोल देते हैं। ब्रह्माजी तो ऐसे नहीं हैं। सनकादिकोंका प्रश्न त्रिगुणोंसे परे था। ब्रह्माजी रजोगुण प्रधान हैं, इससे जब वे उत्तर न दे सके तो मैं शुक्लरूपसे हंस बनकर प्रकट हुआ। वह मेरा उपाख्यान हंसगीताके नामसे प्रसिद्ध है। अब मैं तुम्हें उसी हंसगीता को सुनाता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब मैं हंसगीताको आपको सुनाऊँगा। आप इस गूढ ज्ञानमय उपाख्यानको प्रेमपूर्वक श्रवण करें।"

छप्पय

सब विषयनितैं सैंचि चित्त मम चरननि लावै।
करैं योग अभ्यास निरन्तर ध्यान लगावै॥
सनकादिक कूँ हंस रूपतैं शिक्षा दीन्ही।
वे मेरे प्रिय शिष्य योग महँ निष्ठा कीन्ही॥
उद्धव पूछें जगत्गुरु! हंस रूप कैसे धरयो।
सनकादिक कूँ योगमय, ज्ञान दान शुभ कब करयो॥

—:ः:—

हंसगीताका उपोद्घात

(१२५६)

स मामचिन्तयद्देवः प्रश्नपारतितीर्षया ।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥*
(श्रीभा० ११स्क० १३अ० १६श्लो०)

छप्पय

प्रभु बोले—इकबार कुमरसुत अजढिँग आये।
जिज्ञासा तिन करी बन्दि पद वचन सुनाये॥
विषयनि महँ चित जाइ विषय चितमहँ घुसि जावैं।
कैसे करि तिनि पृथक् मुक्तिपद प्रानी पावैं॥
निरनय नहिँ कछु करि सकी, कर्ममयी अज बुद्धि जब।
प्रश्न पयोनिधि पार हित, करयो ध्यान मम चरन तब॥

जब पुरुष सब ओरसे थक जाता है, उसकी विद्या बुद्धि काम नहीं देती, तब वह भगवान्की शरणमें जाता है, भगवान्का स्मरण करता है। स्मरण करते ही भगवान् समस्त विपत्तियोंको

---

*श्रीभगवान् उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव! जब ब्रह्माजी अपने पुत्र सनकादिकोंके प्रश्नका उत्तर न दे सके तो उस प्रश्नरूपी समुद्रके पार जानेकी इच्छासे उन्होंने मेरा चिन्तन किया। उसी समय मैं उनके सम्मुख हंस रूपसे प्रकट हो गया।"

मेट देते हैं। वे ऐसा बुद्धियोग प्रदान करते हैं, कि उससे समस्त संशय मिट जाते हैं। भगवान् तो भक्त वत्सल हैं, वे अपने भक्तोंके ऊपर ही कृपा करके—उनके ही लिये-नाना अवतार धारण करते हैं। भगवान्के लिये कोई छोटा बडा नहीं, वे जब जैसा चाहते हैं, तब तैसा ही अवतार रख लेते हैं। कभी आधे नर और आधे सिंह बन जाते हैं, कभी ग्रीवा हय-घोडा-की सी और नीचेका भाग मनुष्य जैसा बना लेते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब उद्धवजीने भगवान्से हंसावतारका कारण पूछा, तो भगवान् कहने लगे—"उद्धव ! मैंने सनकादि मुनियोंको योगका उपदेश क्यो दिया और कब दिया, इस सम्बन्धकी कथा मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

एक दिनकी बात है,-कि ब्रह्माजी अपने लोकमें अपनी दिव्य सभामे विराजमान थे। मुख्य मुख्य देवगण, असुरगण, गुह्यक, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, नाग, अप्सरा' किन्नर, किंपुरुष, ऋषि, मनुष्य और पशु पक्षी दिव्य रूप रखकर उनकी उपासना कर रहे थे। सभा खचाखच भरी थी। दिव्य अप्सरायें नृत्यकर रही थीं, गन्धर्व गा रहे थे। कि उसी समय नंग धडंगे सनक, सनंदन, सनातन और सनत्कुमार ये चारो कुमार वहाँ पहुँच गये। उनके पहुँचते ही समस्त सभासद उठ खडे हुए। जो अप्सरायें नाच रहीं थीं तथा जो गन्धर्व गा रहे थे, वे भी सब चुप हो गये और एक ओर बैठ गये। चारो कुमारोंने अपने पिता तथा समस्त लोकोंके पितामह श्रीब्रह्माजीके पाद पद्मोंमे प्रणाम किया। ब्रह्माजीने स्नेहसे सबका आलिंगन किया, कुशल पूछी और अपने निकट ही उन्हें बैठनेको आसन दिया। जब सबके सब पिताकी आज्ञासे सुखपूर्वक आसनोंपर बैठ गये, तब ब्रह्माजीने कहा—"पुत्रो ! इस समय तुम लोग कहाँसे आ रहे हो ? सब प्रकार आनन्द है न ? तुम्हारी मुखाकृतिसे ऐसा प्रतीत होता है,

कि तुम्हें कुछ जिज्ञासा है ? तुम कुछ कहना चाहते हो ?"

यह सुनकर कुमारोंने कहा—"हाँ पिताजी ! हमे एक शका है, हम आपसे एक प्रश्न पूछना चाहते हैं।"

भगवान् ब्रह्माने कहा—"हाँ पूछो, संकोचकी कोनसी बात है, तुम्हें जो पूछना हो निर्भय होकर पूछो।"

कुमारोंने कहा—पिताजी ! चित्तका स्वभाव है कि वह विषयोंकी ओर अपने आप जाता है और विषयोंका स्वभाव है कि वे वासना रूपसे चित्तमें प्रवेश करते हैं। आप सब लोग कहते हैं, कि जब तक चित्त निर्विषय न होगा, जब तक मनको गुणोंसे पृथक् करके गुणातीत न हुआ जायगा, तब तक इस ससार-सागरसे कोई पार नहीं हो सकता। जिस व्यक्तिकी इच्छा मुक्तिपद चाहनेकी हो, वह विषयोंसे चित्तको कैसे हटा सकता है। दोनों का परस्परमें आकर्षण है। यदि एकका होता, तो वह हटाया भी जा सकता था।

भगवान् कह रहे हैं—"उद्धव ! यह प्रश्न बडा गम्भीर था। योगकी सूक्ष्म पराकाष्ठा विषयक प्रश्न था। योगका सम्बन्ध चित्तकी वृत्तियोंके निरोधसे ही है। कोई साधारण पूछनेवाला होता और इधर उधरकी सुनी सुनायी बातोंको बकनेवाला वक्ता होता, तो कुछ झूठ सच चक्करकी बातें कहकर टरका देता। यहाँ तो यह बात थी नहीं। पूछनेवाले तो मायासे अतीत बाल ब्रह्मचारी कुमार थे और उन्होंने सम्पूर्ण भुवनोंके अधीश्वर देवाधिदेव भूतभावन भगवान् ब्रह्माजीसे पूछा था। वे टाल-मटोल कैसे कर सकते थे। वे करना भी चाहें तो सनकादि कैसे मानते। प्रश्न बडा गूढ था। ब्रह्माजी बडे चक्करमें पड गये। भरी सभामें यदि यथार्थ उत्तर नहीं देते, तो बडी हँसी होती, सब कहेंगे—"वेद-गर्भ सर्वज्ञ लोक-पितामह अपने पुत्रोंके प्रश्नका उत्तर भी न दे सके।" कुमारोंने प्रश्न क्या किया, ब्रह्मा-

जीको अगाध प्रश्न सागरमें डुबो दिया। ब्रह्माजीने अपनी सम्पूर्ण बुद्धि लगायी, बहुत हाथ फटफटाये, किन्तु प्रश्नरूपी सागरसे पार जानेका कोई उपाय ही न सूझा।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो! ऐसा यह क्या कठिन प्रश्न था कि ब्रह्माजी भी इसका उत्तर न दे सके। सबके रचनेवाले तो वे ही हैं।"

भगवान्ने कहा—"उद्धव! ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये सब मेरे ही रूप हैं। इनमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं। फिर भी जब सृष्टि करनेकी इच्छासे मायाका आश्रय लेकर मैं गुणानुसार अपने रूप बनाता हूँ, तो रजोगुणमय मेरे रूपका नाम ब्रह्मा होता है। ब्रह्मा सृष्टि करते हैं। रजोगुणके बिना कर्म होता नहीं। इसलिये ब्रह्माजी की बुद्धि विशेषकर कर्मोंमें ही लगी रहती है, उन्हें सदा सृष्टि-वृद्धिकी ही चिन्ता बनी रहती है। यह प्रश्न है विशुद्ध सत्वमय। इसलिये इसका उत्तर मैं विशुद्ध सत्वमय, परम शुभ्र रूपसे ही दे सकता हूँ। ब्रह्माजी त्रैगुण्य विषयोंको ही जानते हैं, क्योंकि वेद त्रैगुण्य विषय है। निस्त्रैगुण्य तो मैं हूँ, अतः ब्रह्माजीको इस प्रश्नका उत्तर स्मरण ही नहीं हुआ।"

उद्धवजीने कहा—"तब महाराज, फिर क्या हुआ? ब्रह्माजी की भद्द हो गयी क्या?"

शीघ्रतासे भगवान्ने कहा—"ना, ना, भद्द क्यों होती? मेरे भक्तोंकी भला कहीं भद्द होती है। उनपर जब कोई संकट आता है, जब कोई बात उनके सामर्थ्यके बाहरकी होती है, तो वे मेरा स्मरण करते हैं। मैं उनके स्मरण करते ही उनके सम्मुख तत्काल प्रकट होकर उनके समस्त दुःखोंको दूर करता हूँ। जब ब्रह्माजीने प्रश्नका पार पानेकी इच्छासे मेरा ध्यान किया, तो मैं तुरन्त हंसका रूप रखकर उनके सम्मुख प्रकट

हुआ।

मुझे देखकर ब्रह्माजी सनकादि तथा अन्य सभी सभासद उठकर खड़े हो गये। सब लोगोंने ब्रह्माजीको आगे किया और मेरे चरणोंमें श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। पाद्य अर्घ्य देकर मेरी विधिवत् पूजा की और सुन्दर आसनपर मुझे बिठाया।"
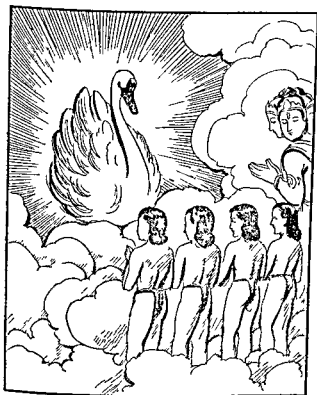
उद्धवजीने पूछा—"प्रभो! लोक पितामह ब्रह्माजी एक पक्षीको देखकर खड़े क्यों हो गये। आप अपने स्वरूपसे तो प्रकट हुए नहीं। पक्षी बनकर आये। पक्षियोंके पैरोंमें तो कोई प्रणाम नहीं करता। क्या ब्रह्माजीने आपको पहिचान लिया था?"

भगवान्ने कहा—"नहीं, ब्रह्माजीने मुझे पहिचाना तो नहीं, किन्तु कैसा भी मैं पशु पत्ती वनकर जाऊँ, मेरा तेज तो छिपता नहीं। देखो, जब मैं वालक बनकर कंसकी सभामें गया, तो मुझे देखकर सभी लोग खड़े हो गये। मिथिलामें जब मैं मह मुनि विश्वामित्रके साथ राम रूपसे गया था, तो मुझे बिना जा ही मेरे तेजसे अभिभूत होकर सभी ऋषि मुनि राजे महारा खड़े हो गये। यद्यपि मैं हंस रूपसे गया था, किन्तु मेरे ते को देखकर ब्रह्माजी तथा कुमारादि समझ गये, कि यह को असाधारण प्राणी है, इसलिये उन्होंने मेरा आदर किया, श्रद्धा सहित चरण वन्दनाकी।"

उद्धवजीने पूछा—"हाँ, तो महाराज! फिर आपसे सन-कादि मुनियोंने क्या प्रश्न किया, आपसे भी उन्होंने वही प्रश्न पूछा होगा जो ब्रह्माजीसे पूछा था।"

भगवान्ने कहा—"बिना परिचयके वे मुझसे सहसा ऐसा प्रश्न कैसे पूछ सकते थे। अतः प्रणाम करके प्रथम उन्होंने मेरा परिचय पूछा। वे मुनि आकर मुझसे बोले—"हे हंस देवता! आप कौन है ?" बस, फिर क्या था मुझे इतने प्रश्न से ही उत्तर देनेका अवसर मिल गया। इसी प्रश्नको लेकर मैंने उनके ब्रह्माजीसे किये हुए प्रश्नका उत्तर देना आरम्भ कर दिया।"

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! आपने परिचय-प्रश्नसे ही उनके प्रश्नका उत्तर कैसे देना आरम्भ कर दिया। आप प्रथम अपना परिचय देते, तब वे प्रश्न करते और तब आप उत्तर देते। यह क्या, कि उन्होंने प्रश्न किया अन्य और आप उत्तर देने लगे अन्य ?"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"उद्धव! अन्य तो कुछ है ही नहीं। सब एक ही है। मिश्रीके कूँजेसे जहाँ

से तोडो वहींसे मीठा ही निकलेगा। पक्षी जहाँ भी उड़े आकाशमें ही उड़ेगा, अतः प्रश्न जो भी किया जायगा, आत्मा के ही सम्बन्धमें किया जायगा, क्योंकि आत्माके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जब सर्व आत्मा ही है तो प्रश्न दूसरा कैसे बन सकता है ? अच्छी बात है, मुनियोंके पूछनेपर मैंने जो उनसे कहा उसे तुमसे भी कहता हूँ, तुम इस पुण्य प्रसङ्गको प्रेम पूर्वक श्रवण करो।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! अब आप हंसगीताके ज्ञानको कान खोलकर सुनें।"

छप्पय

तबई मैं बनि हंस कुमारिनिके ढिँग आयौ।
करि आगे अज सबनि चरन मेरे सिर नायौ॥
पूछें—"को हैं आप ?" कही हँसिकें हौं बानी।
का कूँ करि उद्देश प्रश्न कीन्हों मुनि ज्ञानी॥
आत्मा अद्वय एक है, बनहिँ न तामें प्रश्न यह।
पञ्चभूतके देह सब, प्रश्न न जामें उठहि जिह॥

—❀—

हंस गीता

(१२५७)

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥*
(श्रीभा० ११स्क० १३अ० २४श्लो०)

छप्पय

जो सोचो जो लखो सुनौ सो मैं ही सब हूँ।
प्रथमहु मैं हो रह्यो रहौंगो मैं ही अबहूँ॥
विषयनि चित अनुसरे विषय हू प्रविशैं तामें।
जीव उपाधी उभय नहीं ते रूप कहावें॥
सेवे विषयनि कूँ सतत चित्त होहि आविष्ट तह।
बनै वासना चित्तकी, जीव ब्रह्म द्वै पृथक् कहँ॥

ससारका बन्धन ज्ञानसे ही है। असत्‌मे सत्‌का भ्रम हो गया है। निस्सृत अहको साढे तीन हाथके शरीरमें सीमित कर लिया है। इसीसे जन्म मरणका दुःख होता है और ससार-चक्रमें भ्रमण करना पडता है। जो इस क्षुद्र 'अह' को महान् 'अह' मिला देता है, जो व्यष्टि ज्ञानसे समष्टिमे एकत्व

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजासे कहते हैं—"उद्धव! सन कादिकोंके पूछनेपर हंस रूपसे मैं कहने लगा—मुनियो! मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे अथवा अन्य इन्द्रियोंसे जो भी कुछ ग्रहण किया जाता है, दिखाई देता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझमे अन्य कुछ भी नहीं है। इस बातको तुम निश्चय करके जान लो।'

कर देता है, उसे फिर मोह नहीं होता, वह संसार बन्धनसे सदा के लिये छूट जाता है। इसलिये व्यष्टि समष्टिके भेदको मिटाकर क्षुद्र 'स्व' को महान् 'स्व' में मिलाकर जो निर्द्वंद हो जाता है, वही सुखी कहाता है।

सूतजी कहते हैं—मुनियो! उद्धवजीसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी कह रहे हैं—"उद्धव! जब ब्रह्माजीकी सभामें मैं हंस रूपसे आया और ब्रह्माजीको आगे करके कुमारोंने तेजस्वी हंसके तेजसे प्रभावित होकर प्रणाम किया, तो परिचय प्राप्त करनेके लिये कुमारोंने उनसे पूछा—"आप कौन हैं?"

हंस भगवान्‌ने कहा—"कौन, पूछनेसे आपका तात्पर्य क्या है?"

कुमारोंने कहा—"हम आपका परिचय जानना चाहते हैं।

हंस बोले—"परिचय तो अपरिचितका जाना जाता है।"

कुमारोंने कहा—हमारे लिये तो आप अपरिचित ही हैं।"

हंस बोले—" 'आप' से अभिप्राय क्या? यदि शरीरको 'आप' कहते हो तो शरीरसे तो आप अपरिचित नहीं हैं। जैसा पृथिवी, वायु, जल, तेज और आकाशसे निर्मित रस, रक्त, मेदा, मज्जा, अस्थि और शुक्रवाला आपका शरीर वैसा ही मेरा। सभी शरीर एकसे हैं। शरीरका क्या परिचय? रक्तके स्थानमें मेरे शरीरमें दुग्ध हो या पंचभूतोंसे अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुसे बना हो, तो उसका परिचय दिया जा भी सकता है।"

कुमारोंने कहा—"शरीर तो सभी एकसे ही हैं, सभी पञ्च भूतोंसे निर्मित होनेके कारण अभिन्न हैं। फिर भी सबका अभिमानी आत्मा तो भिन्न भिन्न है।"

हंस बोले—"आत्मामें तो भिन्नता है ही नहीं। आत्म वस्तु

तो सदा सर्वदा एक है, अद्वय है। सजातीय विजातीय तथा स्वगत इन सभी भेद भावोंसे रहित है। जब आत्मा एक है, तो फिर आप का यह प्रश्न कि आप कौन' हैं" कभी बनता ही नहीं। जब आत्मामे द्वित्व है ही नहीं तो फिर मैं किस आश्रयको लेकर आपके इस प्रश्नका उत्तर दूँ?' आत्मामे कोई जाति नहीं होती इसलिये यह नहीं कह सकता मैं अमुक जातिका हूँ। आत्मामें गुण नहीं निर्गुण है अतः मैं यह नहीं कह सकता कि अमुक गुण वाला हूँ, आत्मामे सामान्य और विशेष व्यक्तित्व नहीं होता इसलिये मैं यह भी नहीं कह सकता कि मैं अमुक व्यक्ति हूँ। जब देहमे तेरा मेरा भेद भाव नहीं। सब एक ही वस्तुसे निर्मित है और आत्मा भी एक है तब आपका प्रश्न वाणीका आरम्भ मात्र ही है। वह व्यर्थका आडम्बर ही है।

कुमारोंने कहा—"जब आप देह रूपसे भी अपना परिचय देना नहीं चाहते और आत्म रूपसे भी कुछ नहीं कहते तो फिर कोई भी तो आप होगें?"

हंस रूपसे मैं बोला—"मनसे जो मनन किया जाता है, वह मैं हूँ; वाणीसे जो कुछ बोला जाता है, वह सब मैं हूँ; दृष्टिसे जो देखा जाता है, वह मैं हूँ; घ्राणसे जो सूँघा जाता है वह मैं हूँ, रसनासे जो कुछ चाखा जाता है, वह मैं हूँ; कानसे जो सुना जाता है, वह मैं हूँ; स्पर्शेन्द्रियसे जो स्पर्श किया जाता है, वह मैं हूँ। कहाँ तक कहूँ सब मैं ही मैं हूँ, मुझसे पृथक् कुछ है ही नहीं।"

कुमारोंने कहा—"प्रभो! अब हम समझ गये, आप साक्षात भगवान् हैं, हंस रूपसे आप हमारे सम्मुख प्रकट हुए हैं। कृपा करके बतावें आपने हमारे ऊपर कैसे कृपा की?"

मैंने कहा—'तुमने जो ब्रह्माजीसे प्रश्न पूछा था, उसीका

उत्तर देनेके लिये में हंस रूपसे तुम्हारे सम्मुख आया हूँ।"

कुमारोंने कहा—"हाँ ब्रह्मन्! आप ही हमारे प्रश्नका उत्तर दें? चित्त स्वभावसे ही विपयोंमे जाता है और वासना रूपसे विपयचित्तमें प्रवेश करते हैं, फिर इन दोनोको पृथक् करके ससार सागरसे प्रणीपार केसे हो सकते हैं?"

मेंने कहा—"हे पुत्रो! तुम्हारा कथन सत्य है, अवश्य ही चित्त विपयोंका अनुसरण करता है। जिस जिस इन्द्रियका जो जो विपय है उस उस विपयमें चित्त उनके द्वारा घुस जाता है। इसी प्रकार विपय भी चित्तमे प्रवेश करते हैं। किन्तु य परस्परमें सश्लिष्ट होते हुए भी जीवके स्वरूप नहीं।"

सनकादि मुनियोंने पूछा—"तो क्या हैं भगवन्! यदि चित्त विपयवासना पूर्ण होता है, तो पुरप भी वैसा ही हो जाता है?"

हस भगवान् वोले—"देखो, मैं चित्त और विपय दोनोसे अतिरिक्त हूँ, मुझमे ये दोनों हो नहीं। फिर मेरे ही स्वरूप भूत जीवका ऐसा स्वरूप और स्वभाव कसे हो सकता है, उसका विपयोंसे स्पर्श केसे हो सकता है।"

सनकादिकोंने पूछा—"जव जीवका स्वरूप या स्वभाव नहीं तो यह विपयोमे वँध केसे जाता है?"

हस भगवान् वोले—"विपयोंमे फँस जाना चित्तके अधीन हो जाना यह जीवका स्वरूप तो नहीं हे किन्तु उपाधि अवश्य है। जसे घटका स्वरूप तो मृत्तिका है, किन्तु नाम रूप उसकी उपाधि मात्र हैं। वे मृत्तिकाको स्पर्श भी नहीं कर सक्ते।"

सनकादिकोंने पूछा—"फिर भगवन्! विपयोंमे इतना अधिक आकर्पण क्यों होता है?"

हस भगवान् बोले—"यह सव मिथ्याभिनिवेशसे होता है।

निरन्तर विषयोंका सेवन करनेसे चित्त उनसे आविष्ट हो जाता है। लोहका स्वभाव या स्वरूप लाल और,उष्ण नहीं है, किन्तु निरन्तर अग्निमें तपनेसे वह लाल और उष्ण हो जाता है। अग्निसे पृथक् करते ही फिर वह जैसाका तैसा बन जाता है। जलका स्वभाव नहीं है गरम होना, किन्तु पतीलीके नीचे अग्नि जलानेसे वह कुछ देरके लिये गरमसा हो जाता है, पृथक् रख देनेसे फिर अपने स्वभावका अनुसरण करने लगता है, शीतलगा शीतल हो जाता है। जैसे कोई सुन्दर सुगन्धित लड्डू है, उसे आँखोंने देखा, नाकने सूँघा, स्पर्शेन्द्रियने स्पर्श किया। चित्तमें आया इसे खाले। खानेपर बड़ा स्वादिष्ट लगा। फिर देखा, फिर खा लिया। अब तो उसके चित्तमें इच्छा उत्पन्न होने लगी। लड्डूके न होनेपर इच्छा नहीं होनी चाहिये थी, किन्तु वासना रूपसे वह चित्तमें प्रवेश कर गया। इसीलिये लड्डूके न होनेपर भी चित्तसे ही उसकी अभिव्यक्ति होती रहती है।

सनकादिकोंने कहा—"फिर यह वासना निवृत्त कैसे हो ?"

हँसकर हंस भगवान्ने कहा—"अरे भाई! निवृत्त तो तब हो, जब उसमें लगी हो। यह तो एक मिथ्याभिनिवेश है। इस विषयमें एक दृष्टान्त सुनो।

एक सिंहका बच्चा था, किसी कारण वह अपनी मातासे बिछुड गया। एक भेडियाने उसका पालन-पोषण किया। अब सिंहका बच्चा निरन्तर उनके साथ रहते रहते अपनेको भेडिया ही समझने लगा। उन्हींके सब गुणोंका अनुसरण करने लगा। वास्तवमें तो वह भेडिया था नहीं, किन्तु संगसे उसे ऐसा भ्रम हो गया। एक दिन कोई सिंह आया। उसे देखकर सब भेडिया भागने लगे। वह भी भागने लगा। सिंहने सोचा— "यह बच्चा तो सिंहका है, मेरा ही स्वरूप है, फिर यह मुझसे डरता क्यों है।"

सिंहने जाकर उसे पकडा और कहा—"तू मुझसे डरता क्यों है ?"

उसने कहा—"मैं भेड़िया हूँ, मेरे सब साथी डरकर भागते हैं, इसलिये मैं भी भागता हूँ।"

सिंहने कहा—"सबको तो डरना चाहिये। किन्तु तू तो मेरा स्वरूप है। तू तो सिंह ही है। तू जलमें अपना मुख देख।"

यह सुनकर उसने जलमें मुख देखा। सिंहसे अपने मुखको मिलाया। उसे निश्चय हो गया मैं सिंह हूँ। तुरन्त उसका डर भाग गया और भेडिया होनेका भ्रम भी चला गया। वास्तवमें वह न तो कभी भेडिया था न उसे सिंहसे डरनेका कोई कारण ही था, फिर भी भ्रमवश अपनेको भेडिया समझकर क्लेश उठाता रहा। इसी प्रकार जब तक जीव अपनेको विषया-सक्त चित्तका स्वरूप समझता रहेगा, तब तक उसे पुनः पुनः जन्म और पुनः पुनः मरणके चक्करमें घूमना ही पड़ेगा। उसका संसार-सागरसे उद्धार नहीं हो सकता। जिस समय अपने शुद्ध स्वरूपको मेरा ही रूप समझने लगेगा, उस समय उसका न चित्त कुछ बिगाड़ सकता है न विषय। चित्तमें विषय आते रहे या विषय वासना रूपसे चित्तमें भरते रहे, उसे हर्ष शोक कुछ भी न होगा। इसलिये चित्त और विषय दोनों उपाधियोंको त्यागकर अपनेको निरुपाधिक अनुभव करना चाहिये। यही संसार सागरसे तरनेका उपाय है।

सनकादिकोंने कहा—"भगवन् ! जब जीव सोता है, जागता है, स्वप्न देखता है और उनके सुख दुःखोंको भी अनुभव करता है, जन्म लेता है मरता है, तब उसे हमें चित्त और विषयोंसे पृथक् कैसे समझें।"

इसपर हंस भगवान् बोले—"मुनियो ! सोना, जागना, स्वप्न देखना तथा उनके दुख सुखोंको अनुभव करना यह जीवका काम

नहीं है। ये सब तो तीनों गुणोंकी विषमता होनेके कारण बुद्धि की वृत्तियाँ हैं। जीवका निर्णय या निश्चय करनेवाली बुद्धि इनसे पृथक् है।"

सनकादिकोंने कहा—"बुद्धिकी वृत्तियाँ ही सही। फिर भी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इनका अनुभव तो जीव ही करता है। उपाधि ही सही, जन्म मरण तो होता ही है।"

हंस भगवान्‌ने कहा—"जीवको गुणवृत्ति प्रदान करनेवाला जो यह संसार बन्धन है, उसे मुझ साक्षी रूप तुरीयमें स्थित होकर त्याग दे। यह निश्चय कर ले। मैं जाग्रतका अभिमानी नहीं, स्वप्नका नहीं, सुषुप्तिका नहीं, मैं तो इन तीनोंसे विलक्षण हूँ। "मानो तो देव नहीं पत्थर है।" अपने को जब बद्ध मान लिया है तो संसार बन्धन होता है। जब इन विषयोंसे ऊपर उठकर अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञान हो जायगा, चित्त और गुणोंके परस्पर सम्बन्धका त्याग हो जायगा तो चित्त और विषयोंका सम्बन्ध कुछ वास्तविक थोड़ा है, कल्पित है, अपनेको उनसे पृथक् समझो। फिर उनमें कोई आकर्षण ही न रहेगा। जिसे आत्म कल्याणकी इच्छा हो उसे इस अहंकार जनित बन्धनकी ओर से नितान्त उपरत हो जाना चाहिये। अपनेको कर्ता समझकर दुख भोगना यही संसृतिका हेतु है। आत्माके लिये यही अनर्थ का कारण है। इसलिये तीनों अवस्थाओंके अभिमानको त्याग कर मुझ तुरीय आत्मामें अवस्थित हो जाओ। तभी ये सब सांसारिक चिन्तायें अपने आप छूट जायँगी। जब तक संभेद भाव है तब तक बन्धन है।

सनकादिकोंने पूछा—"यह भेद बुद्धि कैसे हटे?"

हंस भगवान् बोले—"हटनेके उपाय यही हैं, कि विचारसे विवेकसे, विमर्शसे, तर्क-वितर्कसे अनेक युक्तियोंसे यह निश्चय करें कि वास्तवमें 'मैं' कौन हूँ। जब तक अपनेको विषयोंमें

बँधा समझोगे, तब तक चौरासीमें भ्रमते रहोगे।”

सनकादिकोंने कहा—“भगवन्! यह प्राणी जानता हुआ भी विषयोंको क्यों भजता है, क्यों संसार बन्धनमें बँधता है?”

हंस भगवान् बोले—“भ्रमवश ऐसा होता है। स्वप्नावस्थामें न पुरुष है न छुरा है, इनके न होते हुए भी स्वप्नमें कोई छुरा भोंक्ता है, तो उस समय तो यथार्थ ही अनुभव होता है कि कोई हमारे छुरा भोंक रहा है। मिथ्या होनेपर भी स्वप्नमें ये सब सत्य ही प्रतीत होते हैं। उस समय यह नहीं भान होता कि मैं शैयापर सोया हुआ स्वप्न देख रहा हूँ, उस समय तो प्रत्यक्ष यही दीखता है कि मैं एक वन में हँसता हुआ खेल रहा हूँ, या दूसरा कोई कार्यकर रहा हूँ एक पुरुषने आकर छुरेसे मुझपर प्रहार किया। जिस प्रकार पुरुष, छुरा, प्रहार ये सब मिथ्या होनेपर भी सत्य दीखते हैं, उसी प्रकार अज्ञानमें सोये हुए भी संसारी लोग अपनेको जागा हुआ समझते हैं और विषयोंके कारण दुःख उठाते हैं। इसी प्रकार एक आत्मा सत्य है और जितने सब दिखाई देनेवाले अनुभव किये जानेवाले पदार्थ हैं, वे स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके समान मिथ्या हैं। उनका अत्यन्ताभाव है। ये सब भेद मेरी मायाके ही कारण दिखायी देते हैं, कि यह देवदत्त है, यह यज्ञदत्त है, यह अश्व है, यह यजमान है। यह यज्ञ हैं, यह यज्ञसे प्राप्त स्वर्गादि गतियाँ हैं, यह शुभ कर्म है यह अशुभ कर्म है। ये सबके सब स्वप्नमें दिखायी देनेवाले पदार्थोंके सदृश हैं। जैसे जागने पर वे सब पदार्थ नहीं रहते और न उनके द्वारा प्राप्त सुख दुख को ही सत्य समझते हैं, उसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर न चित्त रहता है न विषय, ये सब विलीन हो जाते हैं।”

सनकादिकोंने कहा—“भगवन्! यह संसार हमें निरन्तर

दीखते रहने से सत्य सा ही प्रतीत होता है। हम मनसे बहुत चाहते हैं, इसे मिथ्या मानें। किन्तु जो आठों प्रहर हमारे सिरपर चढा रहता है उसका सर्वथा अभाव कैसे माने ? कैसे हम इससे अपनेको आत्मरूप समझकर पृथक करें ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब सनकादिकोंने हंस भगवान्से संसार भ्रम निवारणका प्रश्न किया, तो उन्होंने जिस प्रकार उपदेश दिया और उसका वर्णन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने जिस प्रकार उद्धवजीसे किया, उसे मैं तुम्हें सुनाता हूँ, तुम इस गूढ ज्ञानमय उपदेशको श्रद्धा भक्तिके सहित श्रवण करो।"

छप्पय

दोऊ जीव उपाधि शुद्ध निज रूप निहारौ।
बुद्धि अवस्था तीनि आतमा इन तैं न्यारौ॥
मुक्त तुरीय महँ पहुँचि जगत् बन्धन नहिँ लागै।
चित्त विषय नसि जायँ अहंता अपनी त्यागै॥
भेद बुद्धि जब तक नहीं, नसै न तब तक बुद्ध है।
जग प्रपञ्च मिथ्या असत्, ब्रह्म सत्य शिव शुद्ध है॥

—::⊛:—

भ्रम निवारणका उपाय

(१२५८)

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था–
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण–
ज्ञानासिना भजत मखिलसंशयाधिम् ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० १३ अ० ३३ श्लो०)

छप्पय

सर्व नियामक नित्य निरंजन आत्मा सत्चित।
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति सबहिं मायामहँ कल्पित॥
ज्ञान खड्गकूँ धारि तीक्ष्ण युक्तिनितें करि करि।
अहंकार कूँ काटि मोइ भजि जगकूँ परिहरि॥
नश्वर दृश्य प्रपञ्च त्रिह, भासे नाना रूपमहँ।
दीखे मायामय त्रिविधि, मिथ्यास्वप्न स्वरूपमहँ॥

यदि हमें अँधेरे में भूतका भ्रम हो जाय, तो मन भूतके

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव! इस रूप से मैंने मुनियोंसे कहा था—"मुनियो! इन्द्रियदियोंका नियामक मैं ही हूँ। अतः इस बातको विचारकर यह निर्णय करे कि जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ मुझमें ही मेरी माया द्वारा ही कल्पित हैं। मुनियोंके सद्वचनों द्वारा तथा अनुमान द्वारा तीक्ष्ण ज्ञानरूपी करवालसे अखिल संशयोंके आश्रय रूप अहंकारको काटकर मेरा भजन करो।"

सभी अङ्गोंकी कल्पना अपने आप करने लगेगा। भूतकी बड़ी बड़ी दाढ़ें न होनेपर भी दीखने लगेंगी। भूतके उलटे बड़े बड़े पैर हमारी आँखोंके सम्मुख नृत्य करने लगेंगे और उसका फटा हुआ विकराल मुख हमें अँधेरे में अपनी ओर बढ़ता हुआ दिखायी देगा, उसी समय कोई महा प्रकाश लेकर आजाय, तो न वहाँ भूत रहता है न भूतकी परछाईं। प्रकाशको देखकर भूत भाग गया हो, सो बात नहीं है, भूत वहाँ था ही नहीं वह तो मिथ्या भ्रम था। इसी प्रकार प्रपञ्चमें जो द्वैत दिखायी देता है, वह ज्ञान होनेपर नष्ट हो जाता हो, सो बात नहीं। द्वैतका अस्तित्व ही नहीं। भ्रमवश उसकी प्रतीति होती है। ज्ञान होनेपर प्रतीति नहीं होती।

सूतजो कहते हैं—"मुनियो ! भ्रम निवारणका उपाय बताते हुए हंस रूपसे भगवान् सनकादिक मुनियोंसे कह रहे हैं— "कुमारो ! आत्मामें द्वैत नहीं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ यह एक ही आत्माकी संज्ञायें हैं। जागरण अवस्थामें वही समस्त इन्द्रियोंसे बाहरके क्षणिक पदार्थोंका उपभोग करता है। जिसे इस बातका अभिमान है, कि मैं जागृत अवस्थामें नाना कार्यों-को करता हूँ, अनेक वस्तुओंको देखता हूँ, इतनी दूरके पथमें चलता हूँ, वह और स्वप्नमें जो वासनामय जगत्के नाना विष-योंका हृदयमें अनुभव करता है, भोगता है और उनके भोगसे सुखी दुखी होता है वह तथा जो सुषुप्ति अवस्थामें मन और इन्द्रियोंके लय हो जानेपर साक्षी रूपसे जो रहता है वह ये सब एक ही हैं। एकके ही अवस्था भेदसे तीन नाम हैं। उसे यों समझो।

एक सेठ है, उसका एक छोटा-सा मन्दिर है। उसमें एक पुजारी रख रखा है। वही भगवान्का भोग बना लेता है और वही भगवान्के सम्मुख पुराण पाठ भी कर देता है।

जिस समय वह भोजन बनाता है, उस समय उसे रसौयाजी कहकर लोग पुकारते हैं। जिस समय पूजा करता है, उस समय पुजारी कहते हैं। कथा वाचता है तब पंडितजी कहते हैं। रसौया, पुजारी, पंडित वह ये तीनों एक ही व्यक्ति है किन्तु अवस्था भेदसे उसमें भेद हो जाता । आत्मा एक ही है। अवस्था भेदसे उसीकी विश्व तैजस, प्राज्ञ ये तीन संज्ञायें हो जाती हैं। वास्तवमें इन तीनोंसे परे वह तुरीय है।"

मुनियोंने पूछा—"भगवन्! जाग्रत अवस्थामें तो वह इन्द्रियोंका नियामक है ही, स्वप्नावस्थामें वासनामय विषयोंका जो अनुभव होता है उसका साक्षी बनकर रहता होगा, किन्तु सुषुप्ति अवस्थामें तो सभी मन और इन्द्रियाँ विलीन हो जाती हैं, उस समय आत्मा साक्षी रूपसे कैसे रहता है, किस वस्तुका अनुभव करता है, यह बात बुद्धिमें नहीं बैठती?"

हंस भगवान् बोले—"मैं सो गया, इसकी प्रतीति किसे होती है? सोनेके अनन्तर उठकर जो कहता है—"आज तो बड़ी गहरी निद्रा आयी, एक भी स्वप्न नहीं देखा। पड़ते ही एक करवट सोता रहा अभी उठा हूँ बड़ी मीठी मीठी निद्रा आयी।" जब निद्रामें सभी लीन हो जाते हैं तो सुखकी नींद आयी, उसका अनुभव किसने किया?" सुखका अनुभव किया इससे प्रतीत होता है, सबके सो जानेपर भी सोनेके सुखका अनुभव करनेवाला कोई जागता ही रहा। जो जागता रहा वही आत्मा है। वह तीनों अवस्थाओंकी स्मृतिसे युक्त होने के कारण उन तीनोंका साक्षी तथा इन्द्रिय और मनका नियामक है।"

मुनियोंने पूछा—"फिर उस आत्माका अनुभव कैसे हो?"

हंस भगवान् बोले—"समस्त संशयोंका आश्रय रूप यह

अहंकार है। अतः सूक्ष्म बुद्धिसे विचार करे कि जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों ही मनकी अवस्था हैं। आत्मा तो सदा जागृत है। सदा एकरस है। मनकी ये अवस्थाएँ मेरी मायाके गुणो द्वारा मुझ परमात्मामें ही कल्पित हैं। इसका अनुमान लगावे। जैसे मेरी आँखें दुखने आगयीं, मेरे कानोंसे कम सुनायी देता है। इससे प्रतीत होता है। आँख, कान नाक ये पृथक् है और जो मेरा कहता है वह पृथक् है। मेरा कहते हैं—"आज तो मेरा मन चंचल हो गया।" वहाँ जानेपर मेरे मनमे आया इस कार्यमे इतना दान दे दूँ।" इन वचनोंसे प्रतीत होता है। मन पृथक् है और उसका नियामक मनसे विलक्षण है। फिर कहते हैं—"आप इस बातको बार बार कहते हैं, किन्तु यह बात मेरी बुद्धिमें बैठती नहीं।" इससे स्पष्ट है, कि मेरी कहनेवाला अन्य है और बुद्धि अन्य है। शास्त्रोंमे भी बार बार कहा गया है "अरे, आत्मा को ही देखो, उसीका मनन करो।" इस प्रकार अनुमान तथा ऋषियोंके वाक्यो द्वारा ज्ञान रूपी खड्गको तीक्ष्ण कर लो। उसी तीक्ष्ण करवालसे इस सर्व संशयोंके आश्रय रूप अहङ्कारको काटकर अपने ही हृदयमें विराजमान मुझ सच्चिदानन्द घन आत्मरूपका भजन करो।"

सनकादिकोंने कहा—"भगवन् ! आप इस संसारको असत् बताते हैं, किन्तु यह तो सदा हमारे सिरपर चढा रहता है। इसका निवारण कैसे करें ?"

हंस भगवान् बोले—"अरे, भाई ! इसमे करनेकी कौन सी बात है। भ्रान्तरूप इस संसारको केवल मनका विलास मात्र समझो। यह केवल दीखता ही दीखता है इसमें कुछ सार नहीं जैसे इन्द्र धनुप, जलकी नीलिमा, आकाशकी छाया मृग मरीचिका दिखायी तो ये सब वस्तुएँ देती हैं, किन्तु

वास्तवमें कुछ हैं नहीं। जो दिखायी देता है सब नाशवान् है। देखो, बच्चे एक मिट्टीके पात्रमें राख रखकर अग्निकी चिनगारी रखकर उसे वेगसे घुमाते हैं। वेगसे घुमानेसे एक अग्निका गोल—सा चक्र स्पष्ट दिखायी देता है। सभी उसे देखते रहते हैं, किन्तु वास्तवमें वह गोला है नहीं भ्रम है। आँखोंमें उँगली देकर दो चन्द्रमा दीखते हैं, किन्तु दो चन्द्र हैं नहीं। पानीके ऊपर बुद बुदा है, वह पानीसे भिन्न नहीं, जल की चंचल तरंगे हैं, जलके ऊपर स्पष्ट तरंगे दीखती हैं, किंतु वे जलसे भिन्न नहीं। इसी प्रकार यह अत्यंत चंचल क्षण भंगुर नाशवान् जगत् उसी एक विज्ञानमें नाना रूपसे भास रहा है। उस एक ही विज्ञानमें जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन प्रकारके विकल्प मायामय हैं, स्वप्न रूप हैं। इसके हटनेका उपाय यही है, इसकी ओरसे नेत्र मूँद लो। विषयोंके प्रति जो तृष्णा है उससे रहित हो जाओ। यदि इस जगत्से दृष्टि हटाकर दृष्टिको भीतरकी ओर ले जाओगे मौन रहकर आत्मतत्वका ही अनुभव करोगे तो तुम्हें अमृततत्वकी प्राप्ति होगी। अब तुम इधर ध्यान ही मत दो निजानन्दमें परिपूर्ण होकर तथा निश्चेष्ट होकर आत्मानन्द सुखका अनुभव करो।"

सनकादिकोंने कहा—"महाराज! यह सब तो सत्य है, किन्तु जब भूख लगती है, प्यास लगती है, तो सब ज्ञान भूल जाता है। तब तो यह असत् संसार ही सत् प्रतीत होने लगता है।"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे, भाई! क्षुधा पिपासा कुछ आत्माके धर्म तो हैं ही नहीं, भूख प्यासके समय संसारकी याद आ भी जाय, तो भी कुछ हानि नहीं। स्वप्न समाप्त होनेपर जागनेपर स्वप्नमें देखा सिंह, स्मरण भी हो जाय, तो वह क्लेश

तो नहीं दे सकता। भय तो नहीं पहुँचा सकता। इसी प्रकार जब एक बार पूर्ण ज्ञान हो गया यह निश्चय हो गया, कि संसार कुछ वस्तु नहीं है, तो फिर उसकी प्रतीति भले ही हो, यह भ्रम उत्पन्न न कर सकेगा। वैसे जब तक देह है, तब तक संसार भी है। कैसा भी ज्ञानी क्यों न हो, देहपात पर्यन्त इस संसारकी प्रतीति तो होती ही रहती है।"

सनकादिकोंने पूछा—"महाराज जिन्हें संसारके मिथ्यात्व का पूर्ण ज्ञान हो गया है, उनकी स्थिति कैसी होती है, वे कैसे संसारमें व्यवहार करते हैं ?"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! हंस भगवान्ने जैसे सनकादिकोंसे ज्ञानीकी स्थिति बतायी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

निजानन्दमहँ पूर्ण मौन गहि तृष्णा त्यागी।
स्वप्न जगत्‌महँ फँसे मोह निद्रातैं जागी॥
स्वप्न पदारथ याद होहि जाग्रत महँ जबई।
करैं न कछू अनर्थ विज्ञ समझै त्यों सबई॥
मदिरातैं उनमत्त नर, मोरीमहँ गिर जातु हैं।
नगो ह्वैकें हसि परै, सुधि बुधि सकल भुलातु हैं॥

—❀—

हंसगीताकी समाप्ति

(१२५९)

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत्सांख्ययोगयोः ।
जानीत मागतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया ॥*

(श्रीमा० ११स्क० १३अ० ३८श्लो०)

छप्पय

यों ही ज्ञानी करें कर्म पीवें अम्मृत रस।
तनमहँ नहिं आसक्त होहिं तन काज दैववश॥
द्विजगन ! मोकूँ परमपुरुष परमेश्वर मानो।
साख्य, सत्य, श्री, कीर्ति परमगति सबकी जानो॥
सब मुनि मिलि पूजा करी, हंस तहाँतें उड़ि गये।
सुन्यो हंस-गीता विमल, अज मुनिगन प्रमुदित भये॥

रात्रिमें ठूँठ तभी तक हमें भय उत्पन्न करनेमें समर्थ रहता है, जब तक हमें उसका यथार्थ ज्ञान नहीं हो जाता । जब हम उसे समझ लेते हैं कि अरे, हम जिसे अँधेरे में चोर या भूत समझते थे, वह तो कटे हुए वृक्षका सूखा ठूँठ है, तो हमारे हृदयसे

* हंस भगवान् सनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"हे विप्रो ! मैंने तुमको यह सांख्य और योगका गुह्य रहस्य बताया है, तुम मुझे सन्नात् यज्ञपुरुष भगवान् ही जानों तुम लोगोंको धर्मउपदेश देनेंको आया हुआ हूँ।"

सब भय निकल जाता है। भय निकलने पर ठूँठ वहाँसे भाग जाता हो, सो भी बात नहीं, वह वहाँ का वहीं बना रहता है, उसके बने रहने पर भी भय नहीं होता। स्वप्नावस्थामें एक कल्पित वधिक दीखता है, उसके हाथमें एक खड्ग दीखता है, वह हमारे कण्ठमें उसे घुसेड़ता है। ये सभी कल्पित वस्तुएँ हैं, फिर भी हम डर जाते हैं। चिल्ला उठते हैं। बड़ा कष्ट होता है। तुरन्त जाग पड़ते हैं। जागने पर वह कल्पित वधिक, खड्ग और कठ सबके सब स्मरण होते हैं, कल्पनाशक्ति भी वही है, फिर भी वे भय उत्पन्न नहीं करते। कारण कि अब तो हम जागे हुए हैं। उन सबकी याद आरही है किंतु हम सोचते हैं, यह तो स्वप्न की कल्पित वस्तुएँ हैं, मिथ्या हैं। इसी प्रकार ज्ञानीके कोई सींग नहीं निकल आत। न उसकी दृष्टि के सम्मुखसे देवदत्त, माता, पिता, भाई बन्धु, घर, परिवार, पञ्चभूत, घट पट तथा सम्पूर्ण पाञ्चभौतिक पदार्थ विलीन ही हो जाते हैं। इन सबके बने रहने पर भी–दृष्टिके सम्मुख दीखते रहने पर भी–वह सबको मिथ्या मानता है। अत उसे न कोई घटना विलक्षण ही प्रतीत होती है, न उनके कारण सुख दु ख ही होता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब सनकादि मुनियोंने हस-भगवान् से ज्ञानी की स्थितिके सम्बन्धमें प्रश्न किया, तब हस-भगवान कहने लगे—'अरे, मुनियो! तुम मुझसे ज्ञानीकी स्थिति पूछते हो? तुम मर्त्यलोकमें जाओ प्रत्यक्ष ज्ञानीकी स्थिति देखो। शरीरके रहते हुए भी ज्ञानी सदा शरीरके अभिमानसे पृथक रहता है। ज्ञानीकी बात छोड दो। तुमने कभी सुरापियोंको देखा है?"

मुनियोंने कहा—"हाँ, महाराज! बहुतसे सुरापियोंको हमने सुरापान करके उन्मत्तोंकी भाँति प्रलाप करते तथा गलियोंमें मोरियोंमें पडे देखा है।"

हंस भगवान् बोले—"तुम उन्हींको देखकर ज्ञानीकी स्थितिके विषयमें अनुमान लगा लो। सुरापानके पूर्व उस व्यक्ति की कैसी दशा थी, दूरसे ही कोई मैली कुचैली वस्तु दिखायी दे जाय तो नाक बंद करके उससे बचकर चला जाय। भूलसे भी किसीका गंगाजल का छींटा पड़ जाय, तो कितना लाल ताता होजाता था। वही जब सुरापान करके उन्मत्त हो जाता है, तब शरीर तो वही है। भोजन देदो तो स्वभाववश खालेगा, मुखसे जल छुआ दो तो पीलेगा। किंतु अब उसे भेद भाव नहीं है। पहिले जहाँ धोती घुटनेसे ऊपर भी उठ गयी, तहाँ वह लज्जित हो जाता था, अब नङ्गा पड़ा है, कुछ भी चिंता नहीं। मोरीमें गिर गया है और उसका मैला जल उसके फटे मुखमें जारहा है, तो भी वह हँस जाता है। बोलता ही है तो असम्बन्ध प्रलाप करता है। शरीरपर कपडा हो अथवा न हो। सम्मुख चाहे वहिन खडी हो या भार्या उसके लिये कुछ भी भेदभाव नहीं। इसीप्रकार सिद्ध पुरुष जब ज्ञानामृतका पान कर लेते हैं, तो संसार तो जैसाका तैसा बना रहता है, किंतु उनकी दृष्टिमें वह सदा मिथ्या ही प्रतीत होता रहता है, शरीरमें उनकी कोई आसक्ति नहीं रहती। जीवनभर शरीरके जो कार्य किये हैं, ज्ञान होने पर स्वभाववश वे कार्य होते रहते हैं। शरीर खडा हो गया, चलने लग गया, बैठ गया, लेट गया। मल मूतका परित्याग कर दिया, ज्ञानी का मुख्य मन इन कार्योंकी ओर जाता ही नहीं। ये सब दैववश होते रहते हैं।"

सनकादि मुनियोंने पूछा—"भगवन्! दुख सुख तो शरीरमें जब तक प्राण रहते हैं, होने ही चाहिये। यदि उसपर कोई प्रहार करें, तो उस ज्ञानी को कष्टका अनुभव न होगा?"

हंस भगवान्ने कहा—"अरे, भाई! कष्ट तो तब होता हो जब उसकी इस पाञ्चभौतिक शरीरमें आसक्ति हो। इस शरीरको ही आत्मा समझता हो जब उसने समझ लिया कि आत्मा नित्य

शुद्ध मुक्त है और शरीर अनित्य, नाशवान् और पाँचोंभूतोंके बन्धनमें है। ये भिन्नधर्मी हैं। तो फिर उसकी देहमें आसक्ति होने ही क्यों लगी ? जब जागकर समझ लिया कि स्वप्नमें देखा हुआ सिंह मिथ्या था, तो जागनेपर उसकी कितनी भी स्मृति हो, उससे भय होता ही नहीं। ज्ञानीने तो शरीरकी ममताको छोड़ कर अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, फिर देहके सुख दुःखोंसे वह सुखी दुखी क्यों होगा। देह रहे तो भी उत्तम न रहे तो भी उत्तम। कोई फूल चढ़ावे तो हर्ष नहीं। मल मूत्र फेंक दे तो उससे विषाद नहीं।"

मुनियोंने कहा—"तब भगवन् ! ऐसी स्थितिमें तो शरीर रहना ही न चाहिये। शरीर तो "अहंता" के कारण ही टिका हुआ है। जब इसमें अहंता न रहेगी, तब तो शरीर टिकना ही न चाहिये।"

हंस भगवान् ने कहा—"नहीं, मुनियो ! यह बात नहीं। शरीर तो कर्माधीन है। सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ये तीन प्रकारके कर्म होते हैं। जैसे संचित तो वे कर्म कहाते हैं जो जन्म जन्मान्तरों के एकत्रित होते हैं। उन कर्मों से एक जन्मके भोगने के लिये कर्म लेकर जो शरीर बनता है उन्हे प्रारब्ध कर्म कहते हैं और जो कर्म हम करते हैं, उन्हे क्रियमाण कर्म कहते हैं, वे जाकर संचित कर्मों में मिलते जाते हैं। जैसे किसीने बहुत दिनों तक धन एकत्रित किया उसके पास जो पैतृक धन था उसे भी उसने मिला लिया। उस सबको एक महाजन के यहाँ रख दिया। महाजन उसे व्याज देता है। व्याजसे वह व्यापार भी करता है, उससे जो लाभ होता है, उसे भी वह महाजनके यहाँ रखता जाता है। महाजनके यहाँ जो सब धन एकत्रित किया है वह तो संचित है। उससे जो व्याज मिलती है, वह प्रारब्ध है, उसे जो व्यापारसे लाभ होता है और उसे महाजनके यहाँ एकत्रित करता जाता है,

वह क्रियमाण है। दैवयोगसे महाजनका दिवाला निकल गया, अब उसका सब धन नष्ट हो गया जो नित्य जमा करता था, वह भी नष्ट हुआ और पुराना मूल धन भी गया, किंतु उसे जो आज व्याज मिली थी, वह तो उसके पास रह ही गयी। जब तक वह व्याज रहेगी तब तक खायगा। जब समाप्त होजायगी निर्धन हो जायगा। इसी प्रकार ज्ञान हो जानेपर संचित और क्रियमाण कर्म तो उसके नष्ट हो जाते हैं, किंतु प्रारब्ध कर्मों का नाश तो भोगने से ही होगा। बिना भोगे प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते। इसीलिये जब तक देहारम्भके प्रारब्ध कर्म शेष रहते हैं, तब तक ज्ञानीका शरीर जीता रहता है। अन्य लोगोंकी भाँति उसके शरीर की भी क्रियायें होती हैं, अन्तर इतना ही है कि उसे समाधि सुख मिल चुका है, वह समाधियोगमें आरूढ़ होकर आत्माका साक्षात्कार कर चुका है, अब इस दृश्य प्रपञ्चके रहने पर भी उसे उसमें आसक्ति नहीं होती, क्योंकि वह इसके यथार्थ रूपको समझ चुका है, जिसने ब्रह्मानन्द सुखका अनुभव किया है, वह इस मल मूत्र से भरे शरीरमें सुखानुभव कैसे करेगा। वह तो स्वप्नमे देखे पदार्थों के सदृश सभी इन्द्रियजन्य विषयोंको मिथ्या समझेगा। उसकी न शरीरमें ममता रहेगी न इसे पालने पोसने और पुष्ट करनेकी चिंता ही रहेगी।"

सनकादिकोंने कहा—"भगवन्! अब हम समझ गये। आपने हमारे ऊपर बडी अनुग्रह की। हमारे पिताजी तो हमारे प्रश्नको सुनकर मौन हो गये थे।"

भगवान् बोले—"कोई बात नहीं, तुम्हारे पिताने उत्तर न दिया तो तुम्हारे पिताके पिताने ही उत्तर दे दिया। आत्मासे उत्पन्न होनेके कारण पुत्र और पितामें कोई भेद नहीं होता। पिता ही पुत्र बन कर पुनः प्रकट होजाता है। तुम मुझे अपने पिताका भी पिता मानो। बेटाओ! मैं ही योगका अन्तिम लक्ष्य हूँ। साङ्ख्य वाले

जिसे परमतत्व कहते हैं, वह भी मैं ही हूँ। जिसे सत्य और ऋतं कहते हैं, वह सत्यस्वरूप मै ही हूँ। जिसका तेज संसारमे व्याप्त है, जिसके अंशांश तेजको पाकर ब्रह्मादि देव तेजस्वी कहाते हैं उन सब तेजोंका एकमात्र आलय निदान मैं ही हूँ, मैं ही समस्त तेजस्वियोंमे श्रेष्ठ हूँ। श्री मेरा ही स्वरूप है, जिस कीर्तिके लिये संसारी लोग लालायित रहते हैं, वह कीर्ति मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तपस्वी लोग इन्द्रियों और मनको वशमें करके जो शम दम करते है वह मैं ही हूँ, कहाँ तक कहूँ, पुत्रो! सब कुछ मैं ही मैं हूँ, मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जितने साधन हैं उन सबकी परम गति मै ही हूँ। शास्त्रकार जो बारम्बार चिल्लाते हैं, सब भूतोंमे समबुद्धि करो, किसीमे भी विषमबुद्धि मत करो, वह समता किसमे की जायगी? कहना होगा, एकमात्र मुझमे ही अर्थात् मुझे ही सबमे समझो। या सब कुछ मुझे ही समझो। शास्त्र बारबार कहते हैं—"दृढ़ असङ्ग शस्त्रसे मोहको काट डालो।" तो वह असङ्गता मुझे ही भजती है। अर्थात् एकमात्र मुझसे ही संग करो। मैं सभी गुणोसे रहित निर्गुण हूँ, मुझे किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं, किसी धनकी किसी सामग्री की अपेक्षा नहीं। परमप्रेमास्पद मैं ही हूँ, सबमें आत्मा रूपसे मैं ही क्रीड़ा कर रहा हूँ। मेरे अतिरिक्त न कोई उत्पन्न हुआ न किसीका अस्तित्व है, फिर प्रलयकी तो बात ही क्या। ये नाना भाव, नाना दृश्य, नाना वाद विवाद कल्पित हैं, मिथ्या हैं, असत् हैं अजात हैं असंभव हैं। सबका एकमात्र आश्रय मुझे ही मानो मेरे प्यारे बच्चो! न चित्त है न विषय ही हैं। यह सब ऐसे ही गन्धर्वनगर और मृगमरीचिकाके सदृश न होते हुए भी अज्ञानमें भास रहे हैं।"

सनकादि मुनियोंने हंस भगवान्के चरणोंमें प्रणाम किया और बोले—"भगवन! आपकी कृपासे हमारा सन्देह दूर हो

गया, हमारा मोह नष्ट हो गया। अब हम समझ गये कि यह सुख है यह दुख है, यह भला है, यह बुरा है यह उत्तम है यह अधम सभी मिथ्या कल्पना है, माया है। एकमात्र आत्मरूपसे आप ही सत्य हैं। वह आत्मा 'अहं' रूपसे सर्वत्र व्यक्त हो रही है। वह मैं ही हूँ।"

मैंने हँसकर कहा—"हाँ, पुत्रो वह तुम ही हो। "अहं और त्वं" में कोई भेद नहीं। जो इनमें भेदभाव करता दो बताता है वही पछताता है, वही रोता है उसे ही भय होता है।

श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् उद्धवजी को उपदेश देते हुए कह रहे हैं—"उद्धव जब हंसरूपसे मैंने सनकादिकों के सर्व संशयोंको दूर कर दिया, उनके प्रश्नका यथार्थ उत्तर दे दिया तो, वे सब बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धाभक्तिसे पूजा की। नाना स्तोत्रों से मेरी स्तुति की। उनकी पूजाको विधिवत् ग्रहण करके मैं तुरन्त अपने पङ्खोंको फटफटाते हुए वहाँ से उड़ गया। उड कहाँ गया वहीं अन्तर्हित हो गया। वहीं अदृश्य हो कर अपने धाममे चला गया। यह मैंने तुमसे गूढ़ ज्ञानमयी यह हंसगीता सुनायी तुम और क्या सुनना चाहते हो ?"

उद्धवजीने पूछा—"महाराज ! आप पक्षी क्यो बने ?"

हँसकर भगवान् बोले—दोनों पक्ष एक ही काम करते हैं, दोनों पक्षोके सहारे ही उड जाता है इसलिये मैं पक्षी बना।"

उवद्धजीने कहा—"महाराज ! मनुष्यको पक्षी उपदेश करे यह बात तो हमारी बुद्धिमें बैठी नहीं। आपको उपदेश ही करना था, तो मुनियोंको उपदेश देने मुनि ही बनते।"

हँसकर भगवान् बोले—"अरे, भाई ! मुझे तो जो जैसे भजता है, वैसा ही मैं रूप रख लेता हूँ। ये ज्ञानी लोग शुष्क प्रकृतिके होते हैं। इनमे सरसता तो होती नहीं तर्कप्रधान होते हैं। इनका तो कहना है कुत्तेसे और कुत्तेके मांस खानेवाले में कोई अन्तर नहीं।

ये लोग सुन्दर स्वरूपके तो उपासक होते नहीं। निर्गुणका ध्यान करते हैं। अजपा गायत्री निर्गुण हैं। स्वास हकारसे बाहर जाती है सकारसे भीतर प्रवेश करती है। इसी लिये जीव 'हंस' इस परम मंत्र का निरन्तर जप करता रहता है। मुझे निर्गुण का उपदेश करना था। हंसका स्मरण हो आया, तुरन्त हंस बन गया। इनको भेदभाव तो था ही नहीं, कि यह पक्षी है यह मनुष्य है पक्षीसे ज्ञान न लेना चाहिये। इसलिये मैं हंस बन कर आगया। दूसरे ये सभी मुनि सात्विक थे। सत्वका स्वरूप शुभ्र है, इसलिये सफेद हंस बन कर आया। असुर तामसी होते हैं, उनके लिये मैं सूअर बन गया। दैत्य भयावने होते हैं इसलिये मैं विकराल नृसिंह बन गया।"

उद्धवजीने कहा—"महाराज! आपके इन कच्छ, मच्छ, हंस नृसिह रूपोंको दूरसे ही डंडौत है। आपके ही ये सब रूप हैं, इसलिये हम अश्रद्धा या उपेक्षा तो करते नहीं, किंतु हमें तो आपका यह त्रिभुवन विमोहक श्यामसुन्दर स्वरूप ही अत्यन्त प्रिय है। प्रभो! ये ज्ञानके सूखे सत्तू हमारे कण्ठके नीचे तो उतरते नहीं। जगत् मिथ्या है, जगत् मिथ्या है, करते करते जगत्का ही ध्यान रहता है रागसे किसीका चिंतन करो या द्वेषसे, ग्रहण करने की इच्छासे स्मरण करो या भूलनेकी इच्छासे स्मरण उसीका आवेगा। भुलानेकी इच्छासे करो, तो उसका अधिक स्मरण आवेगा। किससे कह दो—"अमुक मंत्रका जप करो, किन्तु बन्दरका स्मरण न आने पावे। नहीं सब नष्ट हो जायगा।" यदि इस बातको न कहते, तब चाहे बंदर याद न भी आता, मना करनेपर वह अवश्य याद आवेगा। इसलिये हम तो सोचते हैं, संसार मिथ्या हो सत्य हो इससे हमें क्या प्रयोजन। मिथ्या हो तो उसकी चर्चा ही क्या। मिथ्या तो मिथ्या है ही। सत्य हो, तो वह भी आपके चरणोंके किसी कोने में पड़ा रहे। हमें तो

आपके चरण चाहिये। उन्हींका ध्यान हमे बना रहे। आप भी बार बार यह कह चुके हैं। 'अपने मनको मेरे मनमें मिला दो' तुम सबकी भक्ति छोड़कर मेरे ही भक्त बन जाओ। तुम्हे यज्ञ याग करना हो तो मेरे ही उद्देश्यसे करो। प्रणाम करना हो मेरे ही पादद्वोंमें करो।" फिर आप हंस बनकर यह चित्त है, यह विषय है। यह जाग्रत है यह स्वप्न है—यह सुपुप्ति है, यह विश्व है, यह तैजस है, यह प्राज्ञ है यह तुरीय है। इस पचड़ेको क्यों ले वैठे। जिन्हें वकनेका अभ्यास है, तर्कके विना जिन पर रहा नहीं जाता, ऐसे नीरस शुष्क ज्ञानी इन सूखे सत्तुओंको नमक डालकर फाँकते रहे। प्रभो! हम तो मधुरके उपासक हैं। हमें तो आप अपनी भक्तिका उपाय बताइये। आपकी भक्ति कैसे हो, आपके भक्तोंके क्या लक्षण हैं। इनका विस्तार कीजिये। जगत् सत्य हो तो हमारी कुछ हानि नहीं, मिथ्या हो तो हमें कुछ लाभ नहीं। हमे तो भक्तियोग प्रदान करें। अपनी मंद मंद मुस्कराती हुई मनोहर मूर्तिकी छटा दिखाओ। वह त्रिभङ्गललित छवि हमारे मनमंदिरमें नृत्य करती रहे ऐसा उपाय बताओ। हाय! लोग कैसे अंधे हो गये हैं। आपकी ऐसी बाँकी झाँकी को छोड़कर पत्थरसे सिर पटक रहे हैं। पंचीकरणके झमेलेमें पड रहे हैं, मायाके पीछे नमक सत्तू बाँधकर दौड रहे हैं। आपकी मायाका आज तक किसीने पार पाया भी है, कि ये घट पटको मिथ्या बतानेवाले वादविवादी ही पा लेंगे। अस्तु, हम किसीकी क्यो निंदा करें, क्यों किसीके विषयमें कुछ कहें। जिसे ब्रह्मवाद अच्छा लगता हो वह उसे करे, जिसे मायावाद रुचता हो वह उसके चक्करमें पडे। हमें तो अपनी भक्तिके रहस्यको समझा दो। अपने भक्तोंके भेद बता दो। जिस की इन्द्रियाँ वशमें नहीं और आपकी भक्ति करता हो, उनकी क्या दशा होगी, इन बातोंका मर्म समझा दो। लोगों की भिन्न भिन्न प्रकृतियाँ हैं भिन्न २ साधन हैं। आप तो एक हैं,

फिर इन साधनोंमें इतनी भिन्नता क्यों हो गयी ?"

हँसकर भगवान् बोले—"उद्धव ! तुमने तो बडी सुन्दर बात कह दी। अच्छी बात है पहिले मैं तुम्हें यही बताऊँगा, कि मुझे पाने के अनेक मार्ग क्यों हो गये। पीछे तुम्हें भक्तिका रहस्य समझाऊँगा। अब ज्ञानकी शुष्क सरिता को छोडकर अमृतवाहिनी मेरे चरणोंसे निकली भक्ति भागीरथी में प्रेमसे अवगाहन करो और पेट भरकर त्रिताप नाशक पुण्यपयका पान करो।"

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो ! अब जिस प्रकार भगवान्ने उद्धवजीको भक्तियोगका रहस्य समझाया उसे मैं आपको सुनाता हूँ, आप दत्तचित्त होकर श्रवण करें।"

छप्पय

कहें कृष्ण यह हसज्ञानमय गीता उद्धव !।
सखा समुझिकें कह्यो कहूँ का कथा अपर अब ?
उद्धव पूछें—'प्रभो ! तुम्हें बुध बहुत बतावें।
श्रेयसिद्धिके भिन्न मार्ग ऋषि मुनि बहु गावैं॥
कही ज्ञानगाथा विमल, तृप्ति न मेरी भई हरि !
क्हें भक्तिमहिमा सुखद, सरस मधुर प्रभु कृपा करि॥

—:※:—

श्रेयसिद्धिके अनेक मार्गोंका कारण

(१२६०)

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥*
(श्रीभा० ११स्क० १४अ० ६श्लो०)

छप्पय

तब बोले भगवान्-वेद ही मेरी बानी ।
मुख्य भागवत धर्म जाहि धारैं विज्ञानी ॥
आदि सर्गमहँ कह्यो ब्रह्मतैं मनु ढिँग तिनिनें ।
तिनिसप्तर्षिनि दयो कह्यो फिरि सबतैं उननें ॥
गहन कर्यो निज मत सरिस, सबके भिन्न स्वभाव हैं ।
प्रकृति भेद तैं भिन्न पथ भिन्न क्रिया अरु भाव हैं ॥

जो जैसे प्रकृतिका होता है, उसकी क्रिया ही वैसी होती है। कहीं भी चले जाओ किसी भी समाजमें मिल जाओ। स्वभावसे व्यवहार वर्तावसे उनकी प्रकृतिका पता चल जायगा। कुम्भका एक बार प्रयागराजमें मेला हुआ। दशों दिशाओंसे

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"हे नरोत्तम ! मेरी मायासे मोहित मति वाले मनुष्य यथा कर्म यथा रुचि श्रेयसिद्धिके विभिन्न मार्ग बताते हैं।"

नाना पन्थ, नाना मत विभिन्न वेष और अनेको संम्प्रदायों और अखाड़ोंके साधु आये। उनमें चार साधुओंका नाम बहुत प्रसिद्ध है। एक सज्जनने जिज्ञासा की, कि ये चारों साधु किस किस वर्णके हैं। सबने कहा 'चलो' साधुओंसे ही पूछें।" इसपर एक बुद्धिमान व्यक्ति बोले—"देखो, भाई साधु यदि ब्राह्मण जातिका हुआ, तब तो अपनी जातिको बता देगा। यदि अपर वर्णका हुआ, तो ऐसे ही घुमा फिराकर बातें करेगा, कि तुम उसकी जातिका निर्णय ही न कर सकोगे। कह देगा—"जाति पाँति पूछे ना कोई, हरिको भजै सो हरिका होई।" यदि चतुर्थ वर्णका हुआ तो अप्रसन्न भी होगा और कहेगा-"साधुकी जाति परीक्षा और मातृ योनि परीक्षा करना यह समान पाप है। साधु तो जाति पाँतिसे परे होते हैं।" इसलिये उनसे जाकर पूछना उचित नहीं। किसी दूसरे ढँगसे उनकी जातिका निर्णयकर लो।"

उस व्यक्तिने कहा—"दूसरा कौन ढँग है, आप ही बताइये।"

बुद्धिमान व्यक्ति बोले—"इसमें बतानेकी कौनसी बात है। स्वभावको कितना भी छिपाओ, वह छिपता नहीं। बात चीतमें व्यवहारमें वह प्रकट हो ही जाता है, चलो। हम उनकी बातोंसे ही पहिचान लेंगे।"

यह कहकर दोनों चल दिये। सर्व प्रथम पहिले साधुके पास गये। बड़ी देर तक बैठे रहे। जब उनके दर्शनार्थी चले गये तो उन्होंने कहा—"महाराज! हमें भी कुछ उपदेश दो।"

हँसते हुए महात्मा बोले—"अरे, भाई! उपदेश क्या देना—

राम नाम लड्डू, गोपाल नाम घी।
हरि नाम मिश्री, तू घोर घोर पी॥"

यह सुनकर वे दोनों उठ गये। विज्ञ व्यक्तिने कहा—निश्चय ही ये ब्राह्मण जातिके हैं। ब्राह्मण मधुर प्रिय होते हैं लड्डू पूडी, घी मिश्रीकी बान उन्हींको स्मरण रहती है।"

अब वे दूसरेके पास गये। इसी प्रकार बैठे रहे अन्तमे उपदेशकी बात कही, तो वे गरजकर बोले—अरे, तुमको क्या उपदेश देना। इस ढिलाईसे काम नहीं चलेगा कमर कसकर खड़े हो जाओ।—

राम नामकी ढाल बनाई, कृष्ण कटारा बाँध लिया।
हरी नामको कवच पहिनके, यमका द्वारा जीत लिया।

बुद्धिमान् व्यक्तिने अपने साथीके कानमें कह दिया—"क्षत्रिय हैं क्षत्रिय। इसमे तनिक भी सन्देह नहीं।"

अब तीसरेके पास गये और उपदेश देनेको कहा—"वे बड़ी सरलतासे बोले—

ग्राहक सब संसार है, राम नामको हाट।
मोदीमाधव बेचते, चढ़े जो जितनो बाट॥

बुद्धिमान व्यक्तिने कहा—"ये तो सेठजी हैं भैया अब तीसरेके पास गये इसी प्रकार उपदेश देनेको कहा तो वे बोले—

राम झरोखे बैठकें सबका मुजरा लेहिं।
जैसे जाकी चाकरी, तैसो तांकू देहिं॥

बुद्धिमान व्यक्ति अपने साथीके साथ निकल आये और बोले—"ये कोई चतुर्थ वर्णके संत है।

इन उद्धरणोंको देनेका अभिप्राय इतना ही है कि विभिन्न मनुष्य एक ही ज्ञानको अपनी प्रकृतिके अनुसार ग्रहण करेंगे और उसीके भावसे उपदेश देंगे। चीनी एक ही है, हाथीके साँचेमें पड़ जायगी, हाथीकी मूर्ति बन जायगी, घोड़ेके साँचेमें पड़ गई घोड़ेकी मूर्ति बन जायगी। वस्तु एक है नाम रूपमें साँचेके अनुसार भेद हो जाता है। उस भेद भावको जो सत्य

समझते हैं, वे अज्ञानी हैं जो बहुत्वमें एकत्वका दर्शन करते हैं वे ज्ञानी हैं।

सूतजी कहते हैं--"मुनियो! जब भगवान्से उद्धवजीने ये भिन्न भिन्न क्यों हैं और इन सबमें भक्ति मार्ग क्या है, यह प्रश्न किया तो भगवान् साधनोंकी भिन्नताका कारण बताते हुए कह रहे हैं—"उद्धव! समस्त मार्गोंका उद्गम स्थान वेद है। वेदमें ही निवृत्ति, प्रवृत्ति, ज्ञान भक्ति तथा कर्म आदिका वर्णन है। भागवत धर्मोंका वर्णन वेदमें है। जैसे मैं अनादि हूँ, वैसे ही यह मेरी वाणीवेद अनादि है। प्रलय कालमें जब यह व्यक्त जगत् अव्यक्तमें विलीन हो जाता है, तब इस मेरी वेद रूपा वाणीका भी अदर्शन हो जाता है। जब पुनः सृष्टिके आदिमें अव्यक्तसे निकलकर यह जगत् व्यक्त होता है, तब मेरे नाभिकमलसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति होती है। उनको मैं सर्व प्रथम वेदका उपदेश देता हूँ। इसी क्रमसे इस स्वायम्भुव मन्वन्तरमें मैंने कमलासन ब्रह्माको वेदका उपदेश दिया। ब्रह्माजीने उसी ज्ञानका उपदेश अपने पुत्र स्वायम्भुव मनुको दिया। मनुने उस समयके भृगु, अङ्गिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु इन सातों ब्रह्मर्षियोंको दिया। इन सातोंने अपनी अपनी सन्तानोंको इसका उपदेश दिया। क्रमशः यह ज्ञान पितृगण, देवगण, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण किंदेव, किन्नर, नाग, राक्षस तथा किंपुरुषोंमें फैल गया। ये सबके सब सात्विक तो होते नहीं, कोई सत्व प्रधान होता है कोई रजोगुण प्रधान और कोई तमोगुण प्रधान। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्रकृति होनेसे एक ही ज्ञानको लोगोंने भिन्न भिन्न प्रकारसे समझा।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! एक ही ज्ञान भिन्न भिन्न लोगोंके पास जाकर भिन्न भिन्न कैसे हो गया?"

सूतजी बोले—"महाराज! भले ही वस्तु एक हो, किन्तु पात्र भेदसे उसमें भिन्नता आ ही जाती है। विद्या विनयको देने वाली है, विद्यासे ज्ञान होता है, ज्ञानसे मुक्ति होती है, किन्तु वही विद्या किसी कुपात्रके-खलके समीप चली जाय, तो वह उसका उपयोग केवल विवादके ही लिये करेगा। धन श्रेष्ठ वस्तु है, धनसे दान पुण्य आदि कर्म होते हैं, सभी कार्य धनसे सिद्ध होते हैं, किन्तु वही धन किसी दुर्जन कृपणके समीप चला जाय, तो वह या तो उसे जोड जोडकर रखेगा, या उससे द्यूत, वेश्या, सुरा तथा मांस आदिका सेवन करेगा। धनके मदमे मतवाला होकर नाना अनर्थ करेगा। इसी प्रकार शक्ति बडी दिव्य वस्तु है। संसारमे सभी कार्य शक्तिशाली ही करते हैं। यदि शक्तिशाली बलवान् न हो तो अशक्त पुरुषोंको दुष्ट दुख देने लगे। शक्तिशाली ही अशक्तों-की-दुर्बलोंकी-रक्षा करता है। वही शक्ति यदि दुष्टोंके पास हो, तो सबपर आतंक जमावेंगे, सबको दुख देंगे। उसका उपयोग वे पर पीडनके कार्यमे करेंगे। वर्षाका एक ही जल है, वह समुद्रमें गिरता है, तो उसके संसर्गसे खारा हो जाता है, नदियोंमे पडता है, तो मीठा होता है। जैसा कूआ होगा, वर्षाका जल उसमे पहुँचकर वैसा ही हो जायगा। खारे कूओंमे खारा हो जायगा, मीठे कूएमें मीठा हो जायगा। इस विषयमे एक बडा ही सुन्दर दृष्टान्त है।

प्राचीन कालमें प्रथा थी, कि शिष्य जब गुरुके समीप जाता तो सर्व प्रथम वह ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके-विषयोंसे चित्त हटाकर-अपने मे प्रश्न करनेकी योग्यता लाता। जब उसका अन्त करण शुद्ध हो जाता प्रश्न करने योग्य बन जाता, तब आचार्यसे प्रश्न करता। आचार्य देखते अभी यह प्रश्नको समझनेको अधिकारी नहीं हुआ, तो कह देते-"अभी कुछ दिन

ब्रह्मचर्य व्रतका पालन और करो, फिर हमारे समीप आना।" इसी नियमानुसार एकबार देवता, असुर और मनुष्य इन तीनों पुत्रोंने लोक पितामह प्रजापति ब्रह्माजीके समीप जाकर ब्रह्मचर्य व्रतपूर्वक निवास किया। चिरकाल तक ब्रह्मचर्य धारण करनेके कारण उनके मनमें अपने दोष समझनेकी योग्यता आयी। आदमीका पतन तभी तक होता है, जब तक उसे अपने दोष दिखायी नहीं देते। अपनेको निर्दोष समझता है। जहाँ उसे अपने दोष दिखायी देने लगते हैं तहाँ वह गुरुओंके समीप जाता है, उनसे प्रश्न करता है, हृदयसे उनकी सेवा करता है, उनके उपदेशको ग्रहण करता है और अपने दोषोंको मिटानेकी सतत चेष्टा करता है। इसी प्रकार देवता, असुर और मनुष्य भी ब्रह्मचर्यसे रहनेके कारण अपने दोषोंको विचारने लगे।

कुछ कालके पश्चात् देवता बड़ी श्रद्धासे हाथ जोड़कर ब्रह्माजीके समीप गये और प्रणाम करके बड़ी दीनताके साथ कहने लगे—"प्रभो! आप हमें कोई ऐसा उपदेश दें, जिससे हमारा कल्याण हो।"

ब्रह्माजी यह सुनकर कुछ काल मौन रहे और अन्तमें उन्होंने "द" यह शब्द कहा।" देवताओंने उपदेशको सिरसे स्वीकार किया।"

ब्रह्माजीने कहा—"तुम लोग मेरे उपदेशका तात्पर्य समझ गये न?"

देवताओंने कहा—"हाँ भगवन् समझ गये।"

प्रजापतिने पूछा—"अच्छा, बताओ क्या समझे?"

देवताओंने अपनी भावनाके अनुसार अनुमान लगाया, कि हम लोग भोगी हैं, निरन्तर स्वर्गीय सुखोंके भोगमें ही लगे रहते हैं, अतः प्रजापति हमको इन्द्रिय दमनका उपदेश दे रहे

हैं, अतः वे बोले—"भगवन्! आप हमें 'द' कहनेसे दमन कहनेका उपदेश कर रहे हैं। आप हमें सिखा रहे हैं, कि इन्द्रियोंका दमन करो भोगसे चित्त वृत्तिको हटाओ।"

ब्रह्माजीने कहा—"हाँ, तुमने उचित समझा, ऐसा ही जाकर करो।" यह सुनकर देवतागण लोक पितामह ब्रह्माजी-को प्रणाम करके चले गये।"

अब आये मनुष्य। उन्होंने भी प्रजापतिसे उपदेश देनेके लिये कहा। उनकी बात सुनकर भी प्रजापतिने "द" इसी शब्दको कह दिया और पूछा—"तुम लोग समझे ?"

मनुष्योंने कहा—"हाँ, महाराज! समझ गये।"

प्रजापतिने पूछा—"क्या समझे ?"

मनुष्योंने सोचा—"हमारी स्वाभाविकी प्रवृत्ति संग्रह कर-नेकी है। किसी भी मनुष्यको सहस्र रुपये दे दो और उससे कहो—"इनसे अपना काम चलाओ।" तो कोई ऐसा विरला ही पुरुष होगा, जो कामको करके शेष बचे हुए धनको तुरन्त बाँट दे। नहीं तो सब यही सोचेंगे—"पड़े रहने दो इन पैसोंको। पासमें रहेंगे, तो समयपर फिर काम आवेंगे। संग्रहके ही कारण मनुष्य दुखी होता है अतः लोक पिता-मह हमें "द" शब्दसे दानका उपदेश दे रहे हैं।।" यही सब सोचकर मनुष्य बोले—"भगवन्! आप हमसे कह रहे हैं, कि दान किया करो। दानके अतिरिक्त मनुष्योंके कल्याण का दूसरा कोई भी उत्तम उपाय नहीं है।"

ब्रह्माजीने कहा—"तुम यथार्थ समझे, जाओ और निर-न्तर कुछ न कुछ दान करते रहो।" यह सुनकर ब्रह्माजीको प्रणाम करके मनुष्य चले गये। अब असुर आये।

असुरोंने भी आकर पितामहके पाद पद्मोंमें प्रणाम किया और उनसे कुछ उपदेश देनेको कहा। ब्रह्माजीने उनसे भी "द"

शब्द कह दिया और पूछा—"कहो, भाई कुछ समझे।"

असुरोंने कहा—"हाँ, महाराज ! समझ गये।"

ब्रह्माजीने पूछा—"अच्छा, बताओ क्या समझे?"

असुरोंने सोचा—"हम लोग क्रोध हिंसा परायण हैं। प्राणोंके पोषणके लिये ही पर पुरुषोंको पीड़ा पहुँचाते रहते हैं। द्वेष भावसे ही दूसरोंको दंड देते रहते हैं, अतः हमें देवाधिदेव दया करनेका उपदेश दे रहे हैं।" यही सोचकर वे बोले—"ब्रह्मन् ! आप " द " कहकर दया करनेका उपदेश दे रहे हैं।"

ब्रह्माजीने कहा—"हाँ, यही बात है, तुम लोग जाकर सब प्राणीपर दया किया करो। इसीमे तुम्हारा कल्याण है।"

सूतजी शौनकादि मुनियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो ! एक ही " द " शब्द था, उसका अर्थ सभीने अपनी पात्रता, योग्यता तथा भावनाके अनुसार भिन्न भिन्न लगाया। इसी प्रकार वेद शास्त्रके वाक्योंका भी लोग अपने अपने स्वभावके अनुसार भिन्न भिन्न अर्थ लगाते हैं। ज्ञानकी परम्परा भले ही एक हो, किन्तु उन्हें ग्रहण करनेवाले पात्र उसे अपनी भावनानुसार समझेंगे।" बहुतसे लोग तो उन्हीं वचनोंमे वेद विरुद्ध पाखण्ड मतका भी प्रचार करते हैं। पाखण्डी बन जाते हैं।"

शौनकजीने पूछा—"हाँ, सूतजी ! आपके अभिप्रायको हम समझ गये। अब कृपा करके आप यह बतावें, कि उद्धवजीने भगवान्से और क्या क्या प्रश्न किये?"

सूतजी बोले—"महाराज ! यही बात उद्धवजीने भी भगवान्से पूछी, कि प्रभो ! एक ही सिद्धान्तके प्रतिपादनमें इतनी भिन्नता क्यों हो जाती है। भागवत धर्म तो एक ही है।

उसमें कितने मत हैं, कितने वाद हैं, कितने सिद्धान्त हैं, कितनी पद्धतियाँ हैं, क्या बात है ?"

भगवान् बोले—"उद्धव! यह बात सब मेरी मायाका ही खेल है। मेरी माया ही चींटीसे ब्रह्मा पर्यन्त सभी जीवोंको नचा रही है। मायासे मोहित बुद्धिवाले प्राणी अपने अपने कर्मके अनुसार तथा अपनी रुचिके अनुसार कल्याणके भिन्न भिन्न मार्ग बताते हैं। कोई कुछ कहते हैं कोई कुछ कहते हैं।"

उद्धवजीने कहा—"भगवन्! इस विषयको मुझे स्पष्ट करके समझा दें। मैं अल्पमति वाला व्यक्ति हूँ। मेरी बुद्धि स्थूल है, मुझे भली भाँति सरलतासे समझावें।"

यह सुनकर भगवान् हँस पड़े और बोले—"उद्धव! संसार मे तुम ही तो एक कुशाग्र बुद्धिवाले हो। तुम्हींने तो मनुष्य जन्मकी सार्थकता समझी है। तुम्हारा यह प्रश्न लोक कल्याणके निमित्त है। तुम चाहते हो, इस विषयको अल्पसे अल्प बुद्धिवाला पुरुष समझ जाय। अच्छी बात है, अब मैं तुम्हें बताऊँगा कि लोगोंकी परमार्थके सम्बन्धमें प्रकृति और रुचिके अनुसार कैसी विषमता हो गयी है। अपनी अपनी वासनाके अनुसार लोगोंने परमार्थका कैसा क्षुद्र अर्थ लगा रखा है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! परमार्थके विषयमे भिन्न

भिन्न मुनियोंके भिन्न भिन्न मत हैं, उन्हें आप भगवान्‌के ही शब्दोंमे शान्तिके साथ श्रवण करें।"

छप्पय

धर्म एक परमार्थ बतावें यशकूँ दूसर।
अपर कामकूँ कहें सत्य महँ कोई तत्पर॥
शम दम कोई कहें अपर ऐश्वर्य बतावें।
दान भोग ही स्वार्थ अपर तप मख मन लावें॥
कहें दान व्रत यम नियम, भिन्न भिन्न पुरुषार्थ हैं।
किन्तु न शाश्वत नित्य ये, क्षुद्र कर्ममय स्वार्थ हैं॥

—❀❀—

स्वल्पमें सुख नहीं

(१२६१)

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद् विषयात्मनाम् ॥*

(श्रीभा० ११स्क० १४अ० १२श्लो०)

छप्पय

शुभ करमनितैं लोक मिलैं जाओ सुख पाओ।
पुण्य छीन ह्वै जायँ गिरो उलटे जग जाओ॥
मोह जनक दुख हेतु तुच्छ सुख देवेवारे।
दुख परिनामी लगैं तनिक इन्द्रिनिकूँ प्यारे॥
जो सुख मेरी भक्तिमहँ, वह सुख विषयनि महँ नहीं।
मिश्रीमहँ जो सुख मिलै, लौटामहँ पावैं कहीं॥

एक बड़ी कहावत है, कि बहुतसे अन्धे बैठे हुए बातें कर रहे थे, कि हाथी कैसा होता है। इतनेमें ही कोई बुद्धिमान व्यक्ति आगये उन्होंने कहा—"तुम लोग हाथी देखना चाहते हो क्या ?"

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—'हे सभ्य! जिन्होंने मुझमें ही अपना चित्त लगा दिया है, जो मुझमें ही लीन रहने वाले हैं तथा जो सब ओरसे निरपेक्ष हो गये हैं, ऐसे लोगोंको जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख भला इन्द्रिय लोलुप व्यक्तियोंको कैसे प्राप्त हो सकता है?',

अन्धोंने कहा—"जी हाँ,हमारी इच्छा हाथी देखने की है।"

वे बुद्धिमान व्यक्ति राजाके यहाँसे हाथी ले आये। उन्होंने आकर अन्धोंसे कहा—"आओ देख लो हाथी, किन्तु सब पारी पारीसे क्रमशः आना।"

यह सुनकर उनमे से एक अन्धा आया उसने हाथीकी सूँडपर हाथ फेरा हाथीने सूँ करी। वे पीछे हट गये और बोले—"अरे, हाथी तो अजगरके सदृश होता है सूँ सूँ भी करता है।"

अब दूसरे आये उनका हाथ हाथीके बड़े लम्बे दाँतों पर पड गया। वे दाँतो पर हाथ फेर ही रहे थे, कि हाथीने सूँड ऊपर कर ली। कई बार दाँतो पर हाथ फेरकर अंधे बाबू बोले—"अजी, समझ गये हाथी धानकुटाके सदृश होता है।"

अब तीसरे आये उनका हाथ हाथीके पैर पर पड़ गया दो चार बार नीचेसे ऊपर तक हाथीके पैरके ऊपर हाथ घुमाकर वे बोले—"हाथी पत्थरके मोटे चिकने खंभेके समान होता है।"

फिर चौथे आये उनका हाथ हाथीकी पूँछ पर पडा। कई बार घुमाया, तो कुछ चूतडोंसे भी स्पर्श होगया वे बोले—'जैसे दीवाल पर मोटी बरत लटकी रहती है वैसा हाथी होता है।" इसी प्रकार जिस अन्धेका हाथ जिस अङ्ग पर दैव वशात् पड़ गया, उसने हाथीका वैसा ही स्वरूप अपने मनमे धारण कर लिया। वे हाथीको देखनेवाले अन्धे सबके सब कवि थे। उन्होंने हाथीके स्वरूप पर बड़ी सुन्दर सुन्दर कवितायें की। काल पाकर वे अन्धे मर गये। अब उनके चेले अन्धे हुए। उन्होंने अब हाथीको देखनेका प्रयास नहीं किया। उन्होंने निर्णय कर लिया—"बाबा वाक्यं प्रमा-

णम्" जिसने जिस अन्धेको अपना गुरु मान लिया उसीके वचनोंपर भाष्य करने लगा। अनेक युक्तियोंसे उसके सिद्धान्त को पुष्ट करने लगा। उसके अन्धे गुरुने हाथीको खंभेके सदृश बताया है, तो वह नाना तर्क उपस्थित करके-प्रमाण देकर दूसरोंके मतोंको असत्य बताकर खंभेके स्वरूपको ही ध्रुव सत्य बताने लगा। दूसरा उसका खण्डन करके अजगर के ही रूपको सिद्ध करने लगा।

कुत्तोंका स्वभाव होता है अपूर्व वस्तुको देखकर भूँकते हैं, एक कुत्तेको भूकते देखकर जितने होते हैं सब भूँकने लगते है। अँधेरी रात्रिमें एक कुत्तेको चोरकी कुछ अस्पष्टसी छाया दिखायी दी। वह भूँकता हुआ आगे बढ़ा। तब तक वह छाया छिप गयी। उस कुत्तेको भूँकता देखकर सबके सब भूँकने लगे। अब कोई उन कुत्तोंसे पूछे—"अरे, भाई तुम क्यों भूँक रहे हो। तुमने तो कुछ देखा नहीं देखा तो एक ही कुत्ते ने है न ?"

इसका वे यही उत्तर देंगे-'हम अपने स्वभावसे विवश हैं, यद्यपि हमने कुछ देखा नहीं है, किन्तु जिस पहिले बोलने वालेने जो भी कुछ सत्य, असत्य अर्द्ध सत्य या सत्याभास देखा है, हम तो उसीके शब्दोंको दुहरा रहे हैं। उसीके स्वरमें स्वर मिला रहे हैं।"

इसी प्रकार उन अन्धे गुरुओंने तो अल्प स्वल्प हाथीको देखकर अनुमान किया भी था, किन्तु उनके भाष्यकार चेले तो उन्हींके शब्दोंको तोड मरोडकर दूसरोंसे लडते हैं—"हमारे ही गुरुका कथन सत्य है, तुम सब असत्य कह रहे हो ? आओ हमसे शास्त्रार्थ कर लो। शास्त्रार्थमें न जीते तो शस्त्रार्थ करने लगे। फूटने लगे सिर होने लगीं हत्यायें।

यह तो हुआ दृष्टान्त इसका दार्ष्टान्त यह हुआ कि ब्रह्म

ही हाथी है, वेद रूप बुद्धिमान्ने अन्धे रूम मत प्रवर्तकोंके सम्मुख उसे उपस्थित कर दिया। अब जिस अन्धेने जिस अंशका अनुभव किया, उसे ही समग्र समझकर वर्णन करने लगा। उनके जो भाष्यकार मतानुयायी हुए, उन्हें अनुभव करनेकी तो आवश्यकता ही न रहीं, उन्हींके वचनोंको दुहराने लगे, दूसरे मत वालोंका खण्डन और अपने एक देशीय मत का मण्डन करने लगे। जिनके आँखें हैं, अर्थात् जो सच्चे भगवद् भक्त हैं, वे ब्रह्मको देखते हैं, उसका संस्पर्श करते हैं, उन भाष्यकार अन्धोंकी बातोंको सुनकर हँसते हैं, उन्हें समझाने का भी प्रयत्न न करेंगे, क्योंकि वे समझाने पर भी न समझेंगे। वाह्य चिन्होंके ऊपर थोथे शब्दोंके ऊपर अड़ जायँगे। इसीका नाम है "अन्ध परम्परा" इस अन्ध परम्पराके कारण ही नाना वाद, नाना मत, नाना सम्प्रदायें तथा नाना पन्थ चल पड़े हैं सब अपने अपने पन्थको सत्य मनवाने के ही लिये व्यस्त हैं। स्वयं सत्य की खोज नहीं करते। सर्प का पता नहीं लगाते उसकी लीकको पीटते रहते हैं। यही भगवान्की माया है, इसीमें विमोहित हुए भिन्न भिन्न कर्म और भिन्न भिन्न रुचिवाले पुरुष श्रेयसिद्धिके मार्गको भिन्न भिन्न भाँतिसे प्रतिपादन करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजीने भगवान्से यह प्रश्न किया कि ब्रह्मवादी लोग श्रेयसिद्धिके जो अनेक मार्ग बताते हैं वे अपनी अपनी दृष्टिके अनुसार सभी श्रेष्ठ हैं या उन सबमें कोई एक मार्ग सर्वश्रेष्ठ है?" तब भगवान् कहने लगे—जहाँ मायाका सम्बन्ध लेकर वाद विवाद है वहाँ सत्य कहाँ! मेरी मायासे मोहित मनुष्य ही मत्त मतान्तरों के मार्गमें मृग तृष्णाके सदृश भटकते रहते हैं।

एक कर्मवादी लोग हैं। उन्होंने वेदोंको पढ़कर यही

निष्कर्ष निकाला है, कि कर्म ही परम पुरुषार्थ है। उनके मतमें कर्म चार प्रकारके होते हैं। नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म, काम्यकर्म, और निषिद्धकर्म। नित्यकर्म तो सन्ध्या वन्दनादि कर्म हैं जो कर्तव्य समझकर नित्य किये ही जाते हैं, उनके करनेसे कोई विशेष फल नहीं, किन्तु उनके न करने से दोष लगता है।

नैमित्तिक कर्म वे कहाते हैं, जो किसी निमित्तके आनेपर किये जाते हैं। जैसे घरमें बालक पैदा हुआ तो उसका जात कर्म संस्कार नान्दी मुख श्राद्ध आदि करना। मरने पर उसके पिण्डदान तथा श्राद्धादि कर्म करना। ग्रहण लगनेपर दान पुण्य करना। वारुणी, महावारुणी आदि पर्व लगने पर गंगा स्नानादि करना जो भी किसी निमित्तके आनेपर किये जाते हैं, वे नैमित्तिककर्म कहाते हैं।

काम्यकर्म वे होते हैं, जो किसी कामना विशेषसे किये जाते हैं। जैसे स्वर्गकी कामनासे अश्वमेध यज्ञ करना। पुत्रकी कामनासे पुत्रेष्टि यज्ञ करना इसी प्रकार जो जो भी कामना हो उसके निमित्तसे जो शुभ कर्म किये जाते हैं उसकी गणना मीमांसकोंने काम्य कर्मोंमें की है।

निषिद्ध कर्म उनका नाम है, जिनको करनेके लिये शास्त्र निषेध करता है जैसे लहसुन प्याज मत खाओ। पर स्त्री गमन मत करो। चोरी न करो। दुर्जनोंका संग न करो। इत्यादि इत्यादि कर्मोंका परित्याग करना।

इन कर्मवादियोंका कहना है, तुम संसारमें निषिद्ध कर्मो को त्याग करके स्वर्गकी कामनासे जैसे बने तैसे जीवन पर्यन्त काम्यकर्मोंको करते रहो। यहाँ यज्ञ यागादि करोगे तो मरकर उत्तम लोकोंको प्राप्त करोगे। जब पुण्य क्षीण हो जावेगा तो बड़े भारी कुलीन धनिक परिवारमें तुम्हारा जन्म होगा, वहाँ भी बड़े बड़े यज्ञ करना। ऐसे कर्म करना जो अक्षय

लोकोंको देनेवाले हों, उन्हें करके फिर स्वर्गादि पुण्य लोकोंमें सुख भोगो। यही पुरुषार्थ है यही लक्ष्य है यही मुक्ति है कर्म ही सब कुछ है।

कुछ लोगोंका कहना है, संसारमे सुख है जीवनमें। कैसा भी दुखी प्राणी हो मरना कोई नहीं चाहता। चींटीको भी दबाओ तो वह अपनी जीवनकी रक्षाके लिये सब प्रयत्न करेगी। जो अत्यंत दुखी है रोगी है, मरना वह भी नहीं चाहता। ऊपरसे भले ही कह दे, कि मैं मर जाऊँ तो अच्छा है, किन्तु भीतर ही भीतर जीवनकी आशा बनी रखती है। इस विषयमें एक दृष्टान्त है।

एक लकड़हारा था, उसे दमेका रोग था, अत्यंत दरिद्री था, बहुत बूढ़ा था। उसकी पत्नी परलोक पधार गयी थी। युवक पुत्र मर गये थे, एक युवती विधवा कन्या अंधी उसके पास रहती थी। बड़े कष्टसे वनसे वह लकड़ियोंको एकत्रित करके लाता और नगरमें बेचकर उससे जैसे तैसे निर्वाह करता। एक दिन वह रुग्ण होनेसे लकड़ी बीनने न जा सका। उस दिन उसे उपवास करना पड़ा। दूसरे दिन जैसे तैसे टेकते टेकते वनमें गया। इधर उधरसे लकडियोंको इकट्ठा किया। तब तक दोपहर हो गया, जेठका महीना था, बालुकामय मार्ग था। बालू तप रही थी वह गट्ठरको लेकर चला। ऊपरसे सूर्य तप रहे थे, नीचेसे बालू तप रही थी, पेटमें जठराग्नि तप रही थी। वृद्धावस्था अशक्तताको लिये हुए उसके साथ थी। वह घबरा गया। सम्मुख एक शमीका वृक्ष था। छायाकी आशासे आया तो पैरमें काँटा लग गया। लकडियाँ रख दीं और दुखी होकर बोला—"हाय! मेरे लिये मृत्यु भी नहीं आती।"

उसी समय बाल बखेरे विकराल रूपवाली एक बड़ी

भयंकर मुखवाली एक स्त्री आयी और बोली—"मेरा ही नाम मृत्यु है, मैं तेरे कहनेसे आगयी, बोल क्या कहता है।"

यह सुनकर तो लकड़हारे की सिटिल्ली भूल गयी। उसने मनसे मृत्युको नहीं बुलाया था। मृत्यु सम्मुख आ ही गयी, तो बोला—"देवीजी यही कहता हूँ, कि मैं बहुत थक गया हूँ, यहाँ कोई बोझ उठानेवाला नहीं है, मुझे बोझा उठवा दो।"

कहनेका साराश यह है, कि मरना कोई नहीं चाहता। सभी प्राणियोंको जीवन प्रिय है, किन्तु यह शरीर तो पञ्च-भौतिक है, अनित्य है, क्षणभंगुर है, इसमें सहस्रों छिद्र हैं, इसका नाश अवश्य होगा। शरीर सदा जीवित रह नहीं सकता संसारमें जीवित वही है, जिसकी कीर्ति जीवित हो। इस लोकमें जब तक जिसकी पुण्यमयी कीर्ति जीवित रहती है, तब तक वह स्वर्गलोकमें सुख भोगता रहता है। काव्य अलङ्कार रचनेवाले कविगण कहते हैं, अपनी कीर्ति संसारमें बनी रहे यही पुरुषार्थ है। यही श्रेय है। वैसे तो कीडे मकोडे न जाने कितने मरते हैं, कितने जन्म लेते है, जन्म लेना उसीका सार्थक है, जिसकी कीर्ति ससारमें बनी हो। यहाँ जिसकी कीर्ति नहीं है, उसे कोई स्वर्गमें भी नहीं रहने देता। इस विषयमें एक कथा है।

प्राचीन कालमें इन्द्रद्युम्न नामके एक राजा थे। लाखों वर्ष उन्होंने स्वर्गका सुख भोगा। जब उन्हें स्वर्गमें रहते रहते बहुत दिन व्यतीत हो गये तो स्वर्ग गृह निरीक्षकने एक दिन आकर राजाकी 'वृत्त पत्री' देखी और उसने नम्रतासे कहा—"राजन्! स्वर्गमें रहते रहते आपको बहुत दिन व्य-तीत हो गये। मुझे ऐसा लगता है कि अब आपकी स्वर्गकी अवधि समाप्त हो गयी। अब आप अपना बोरिया बिस्तरा बाँधिये।"

राजाने कहा—"मेरी वृत्त पत्रिका" मे तो यह बात लिखी नहीं।"

निरीक्षकने कहा—"मुझे ऐसा लगता है, कि आपकी 'वृत्त पत्रिकामें' कुछ गोलमाल है। अब आप स्वर्गके अधिकारी नहीं है, क्योंकि मैं देखता हूँ, आपको यहाँ बहुत दिन हो गये।"

राजाने कहा—"आप अपने सन्देहको दूर कर लीजिये। मुझे यथार्थ बताइये मेरा स्वर्गमे रहनेका अभी और समय है या नहीं।"

निरीक्षकने कहा—"पृथिवी पर आपका कोई नाम जानता है।"

राजाने घबराकर कहा—"मुझे पता नहीं था, मेरे अभियोगकी पुनरावृत्ति होगी, फिर मुझे साक्षी उपस्थित करने पड़ेंगे। मुझे यहाँ आये करोड़ों वर्ष होगये अब मैं तुम्हें बताऊँ कि अमुक मेरे नामको जानता है।"

स्वर्ग निरीक्षकने कहा—"राजन्! कोई न हो, जिसकी कीर्ति शेप है उसके नामको कौन नहीं जानता। देखिये प्रियव्रत राजा कब हुए उन्होंने अपने रथके चक्रोंसे सात समुद्र बनाये। बच्चे बच्चेसे उनका नाम पूछ लीजिये। राजा भगीरथ कब हुए। वे कब गंगाको लाये आप चाहें जिससे महाराज भगीरथका नाम पूछ लें। गंगाजीका भागीरथी नाम कौन नहीं जानता। निमि कब हुए, आज सभी नेत्रवाले निमिका नाम जानते हैं। व्यास, वाल्मीक कब हुए सभी उन्हें अपना आत्मीय समझते हैं। ये सबके सब पुण्य लोकोंमें आनंद कर रहे हैं और तब तक आनंद करेंगे जब तक पृथिवी पर एक भी इनके नामको जाननेवाला शेप रहेगा। आपको कोई एक भी जानता हो, तो आप यहाँ सुखसे रह

सकते हैं। एकके मुखपर भी आपकी कीर्ति हो तो आपको स्वर्गसे कोई भगा नहीं सकता।"

अब राजाको बड़ी चिन्ता हुई। इतने दिनोंके पश्चात् मैं साक्षी कहाँसे उपस्थित करूँ। सोचते सोचते उन्हें स्मरण हो आया—"महामुनि मार्कंडेय चिरजीवी हैं, कल्पोंकी उनकी आयु है, संभव है, वे मेरा नाम जानते हों।" यह सोचकर उन्होंने स्वर्ग निरीक्षकसे कहा—"अच्छी बात है चलिये, मैं पृथिवी पर कोई अपना साक्षी उपस्थित करूँगा।" यह सुनकर निरीक्षकने अपने विमानको बुलाया दोनों उसमें बैठकर चल दिये।

मार्कंडेय मुनि एक वृक्षके नीचे बैठकर तपस्या कर रहे थे, दोनोंने मुनिके चरणमें प्रणाम किया। फिर राजाने पूछा—"भगवन्! अमुक देशके इन्द्र द्युम्न नामक राजाका नाम सुना है?" मुनिने कहा—"भैया! मैंने बहुत राजाओंका नाम सुना है, सबका नाम मुझे याद भी नहीं रहता, फिर मैं भजनमें तल्लीन रहता हूँ, इसलिये कौन कहाँ का राजा है इसका मैं ध्यान भी नहीं रखता।"

राजाने सोचा—"यह साक्षी तो गोलमाल रही। इस साक्षीसे मैं स्वर्गका अधिकारी नहीं रह सकता।' यही सोचकर उसने पूछा—"ब्रह्मन्! जो आपके सदृश चिरजीवी हो ऐसे किसी अन्य व्यक्तिको बताइये।"

मार्कंडेय मुनि बोले—"मुझसे भी बड़ा यहाँ एक नदीके किनारे बगुला रहता है, आप उससे जाकर पूछें।"

यह सुनकर दोनों मुनिको प्रणाम करके बगुलाके पास पहुँचे। राजाने उससे भी यही प्रश्न पूछा—"भैया! तुमने अमुक देशके राजाका नाम सुना है? तुम उन्हें जानते हो?"

बगुलाने कहा—"महानुभाव ! मैं तो बूढ़ा हो गया हूँ। मेरी स्मरण शक्ति भी अब उतनी नहीं है। सुना होगा, मुझे ठीक ठीक याद नहीं है।"

राजाके प्राण सूख रहे थे, सोच रहे थे यदि कोई भी साक्षी न मिला, तो मुझे स्वर्गसे गिरना पड़ेगा, अतः वे

बोले—"अच्छा भैया ! तुम्हारे सदृश कोई और व्यक्ति हो तो उसे बताओ।"

बगुलाने कहा—"अमुक सरोवरमें एक कछुआ रहता है, वह मुझसे भी अवस्थामें बड़ा है उससे जाकर पूछिये।

संभव है वह आपके प्रश्नका उत्तर दे दे।"

यह सुनकर दोनों उस सरोवरके निकट गये। राजाने कछुआसे पूछा—"महाभाग! आप चिरजीवी हो! आपने राजा इन्द्रद्युम्नका नाम सुना है?"

कछुआने अत्यंत ही श्रद्धा भक्तिसे कहा—"हे तेजस्वी महानुभाव! आप कौन है? राजर्षि इन्द्रद्युम्नका नाम कौन नहीं जानता। जिस सरोवरमें मैं रहता हूँ, यह उन्हींका बनाया हुआ है। इसका नाम इन्द्रद्युम्न सरोवर है। उन राजर्षिने इस अगाध जलवाले सरोवरको मेरे सम्मुख बनवाया था। सुवर्णके घाट और सीढ़ियाँ बनायी थीं। उनके स्वर्गवासी होनेपर उनके वंशज राजा इसकी रेख देख करते रहे, जीर्णोद्धार कराते रहे। इसके घाट फिर चाँदीके बने, तामेके बने फिर पत्थरके बने। अब चिरकालसे राजाके वंशमें कोई नहीं है। इसके घाटोंको किसीने बनवाया नहीं जीर्ण सीर्ण पड़ा है, फिर भी उन राजर्षिकी विमल कीर्ति तो इस सरोवरके कारण स्वर्ग तक विद्यमान है।" कछुआ यह कह ही रहा था, कि इतनेमें ही सहस्रों गौओंका एकझुंड आया और वह यथेष्ट जल पीकर चला गया। यह देखकर स्वर्गके निरीक्षकने कहा—"राजन्! जब तक इस सरोवरमें एक बूँद भी जल रहेगा, जब तक लोग आपका इस सरोवरके सम्बन्धसे नाम लेते रहेंगे तब तक आपको स्वर्गसे कोई निकाल नहीं सकता। आप सुखपूर्वक स्वर्गमें निवास करें।"

कहनेका तात्पर्य यह है, कि लोकमें कीर्ति बनी रहना ही सच्चा जीवन है, उसीमें स्वर्ग है उसीमें सुख है। अतः बहुतसे लोग कीर्तिको ही सर्वोत्तमश्रेय मानते हैं।

कुछ लोगोंका कहना है, कि संसारमें काम ही सबसे उत्तम सुख है। ब्रह्म चिन्तनमें क्या सुख है उसे तो किसीने

देखा नहीं। वह तो आकाशकुसुमके सदृश केवल कहने मात्रके लिये है। काम सुखका अनुभव सभीको है। संसारमें लोग बड़ी बड़ी आपत्तियाँ केवल कामसुख प्राप्त करनेके लिये ही सहन करते हैं। एक कुत्ता है, उसका सब शरीर सड़ रहा है, कीड़े पड़ रहे है, भर पेट भोजन नहीं मिलता। किन्तु क्षण भरको उसे कामसुख मिल जाय तो वह सुखी हो जाता है। बड़े बड़े मुनियोंको देखा है, सहस्रों वर्ष तपस्या करते रहे, ब्रह्म का चिन्तन करते रहे, जहाँ कोई अप्सरा पहुँची कि फिसल गये। काममें इतना सुख न होता, तो सहस्रो वर्षके जप तपके पश्चात् भी मन उसकी ओर क्यों जाता। कामसे समाधि होती है। अपनी इच्छानुकूल स्त्री को पति मिले और पतिको मनोनुकूल स्त्री मिले तो उससे बढ़कर सुख, कल्याण, मोक्ष या आनन्द दूसरा नहीं। इसलिये वात्स्यायन आदि मुनियों ने काम शास्त्रकी रचना की है, उसमे कामको ही श्रेय बताया है। कामका सेवन कैसे करना चाहिये इसकी विधि बतायी उनके मतमे काम ही परम श्रेय है।

किसी किसीका मत है, कि अहिंसाका भाव रखना, सत्य बोलना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यसे रहना, बहुत संग्रह न करना, पवित्रतासे रहना, संतोप रखना, मंत्र जप करना, ईश्वर पर विश्वास रखना मन और इन्द्रियोंका दमन करना, यही पुरुपार्थ है, सब ओरसे चित्त वृत्तियोंको हटाकर अपने स्वरूप का चिन्तन करते रहना यही परम पुरुपार्थ है। इस विपय पर पतञ्जलि आदि मुनियोंने विशद विवेचन किया है। उनका विशेप बल इन्द्रिय और मनके संयम पर ही है।

कुछ लोग कहते हैं—"शरीर सुखाना तो क्लेश उठाना है। जिस कर्मसे यहाँ क्लेश है उससे परलोकमें क्या सुख मिलेगा। अतः अपने ऐश्वर्यको बढ़ाओ। सब पर शासन

करो प्रभावशाली बनो। दण्डनीतिकारोंने ऐश्वर्यको ही मुख्य माना है और उन्होंने अपने शास्त्रोंमें साम, दाम तथा दण्ड-नीति आदिका विस्तारके साथ वर्णन किया है। शत्रुको इस प्रकार नीचा दिखावे ऐसे उसे जीते ऐसे ऐसे अपना ऐश्वर्य स्थापित करे। संसारमें ऐश्वर्यशाली होना यही सबसे श्रेष्ठ सुख है। ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करते रहना चाहिये। जिसका जितना ही ऐश्वर्य होगा, वह उतना ही बड़ा होगा।

किसी किसीका मत है कि न स्वर्ग है न नरक। परमात्मा परब्रह्म किसीने देखा नहीं। जो कुछ है सो यह शरीर ही है। शरीरके जल नष्ट हो जानेके अनन्तर कुछ भी नहीं रहता। मृतक पुरुषके निमित्त तर्पण करना श्राद्ध करके ब्राह्मणोंको भोजन कराना यह सब मिथ्या है, ढोंग है। कुछ भांड, धूर्त निशाचर पुरुषोंने अपने पेटको बढ़ानेके लिये वेद पुराणोंको बना लिया है, उनमें बात बात पर ब्राह्मण भोजन है, छींको तो ब्राह्मण भोजन कराओ, पैदा हो तो ब्राह्मणको खिलाओ, मरे तो ब्राह्मणोंको खिलाओ। यदि ब्राह्मणके खिलानेसे परलोकमें बैठे प्रेतका पेट भर जाता हो, तो यात्रामें हम आटा दाल, चावल लड्डू सकलपारे बाँधकर क्यों जाया करें। ब्राह्मणको यहाँ खिला दिया है, यात्रामें हमारा पेट भर जाया करे, किन्तु ऐसा होता नहीं। जब घरपर खिलानेसे यात्रामें हमे नहीं मिल सकता तो परलोकमें प्रेतको तो कैसे मिल जायगा। तर्पणसे पितर तृप्त हो जायँ तो दोपहरोंमें खेतोंमें काम करनेवालोंको जल बाँधकर ले जानेकी क्या आवश्य-कता है। सब लोग खेतपर काम करते रहें, एक आदमी ब्राह्मण का मुख फाड़कर उसमें ठण्डा जल भरता रहे। ऐसा करने से जब खेतवालोंकी ही प्यास नहीं बुझती तो फिर परलोकगत पितरोंकी प्यास क्या बुझेगी। परलोक, वेद, यज्ञ, याग, कुछ

नहीं। परम पुरुषार्थ यही है कि जैसे हो तैसे इस शरीरको सुखी रखे। परलोक किसीने देखा नहीं। यह आकाशका पुष्प शशकका शृंग, वन्ध्याका पुत्र गूलरका फूल, ईखका फल तथा चन्द्रमाकी अर्द्धस्फुटित कलिकाके सदृश है इसलिये परलोककी चिन्ता छोड़कर सर्व प्रयत्नों द्वारा इस शरीरको परिपुष्ट करो। घरमें पैसा न हो तो ऋण लेकर घृत ले आओ और उसमें चीनी सूजी मिलाकर गरमागरम हलुआ उड़ाओ। पेटमें पहुँच गया परमार्थ हो गया, अब ऋणवाला क्या ले लेगा। तुम कहो, कि पाप लगेगा, तो पापनामक कोई वस्तु ही नहीं। पेटको न भरना ही पाप है किसी उपायसे इसे सजाना बजाना हृष्ट पुष्ट बनाना यही पुण्य है। जो मर गया, वह फिर लौटकर नहीं आता। अतः शरीरको सुखी बनाना अपने साथियोंको खिलाना ही जीवनका एकमात्र उद्देश्य है।

कुछ लोगोंका कथन है—"नहीं भाई, परलोक एक है, वह शरीरके पोषणमात्रसे ही नहीं मिल सकता। अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास्य, चातुर्मास्य, पशुयज्ञ तथा सोमयज्ञ आदि यज्ञयागों को करना चाहिये जन्माष्टमी, रामनवमी, एकादशी आदिके व्रत करने चाहिये, कृच्छ, चान्द्रायणादि तप करने चाहिये, दान देना चाहिये, यम नियमोंका भलीभाँति पालन करना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने सखा उद्धवसे कह रहे हैं—"उद्धव! यम, नियम, दान, व्रत, यज्ञ, विविध भाँतिके तप तथा अन्य पुण्य कर्मोंके करनेसे जो लोक प्राप्त होते हैं, वे सब आदिवाले हैं। वे परिणाममें दुख देनेवाले हैं। पुण्य क्षीण होते ही उन लोकोंसे ढकेल दिये जाते हैं। अजी, तुम विचार करो सुवर्णकी बनी जितनी वस्तुएँ होंगी, सुवर्णकी गुणवाली ही होंगी। चीनीकी बनी हुई सब वस्तुएँ मीठी ही होंगी। पृथिवीसे कैसी सुन्दरसे सुन्दर सुदृढ वर्तन बना लो, उसमें

पृथिवीका गुण रहेगा ही। इसी प्रकार कर्मके द्वारा चाहे ब्रह्मलोक तक पहुँच जाओ, ऊँचेसे ऊँचे लोकको पहुँच जाओ, किन्तु वह होगा क्षयिष्णु ही। देखनेमें वह तत्काल सुख—सा प्रतीत भले ही हो किन्तु उसका परिणाम दुःख ही होगा। सम्पूर्ण आरम्भ किये हुए कर्म दोष युक्त हैं इसीलिये ये मोहजनक, स्वल्प आनन्द देनेवाले और शोकसे व्याप्त हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"तब भगवन्! शाश्वतसुख किससे प्राप्त होता है?"

भगवान् बोले उद्धव! "समस्त संसारी भोगोंसे निरपेक्ष हो जाय। यह ला वह ला, इसे भी बना, उसे भी रख। इसका भी संग्रह कर उसका भी स्वाद चाख इत्यादि विचारों को मनसे निकाल दे, मुझमें ही चित्तको लगाये रखे, मेरे रूपमें मेरे चिन्तनमें ही निरन्तर तल्लीन बना रहे, मुझमें ही निरन्तर रमा रहे, तब उसे यथार्थसुख प्राप्त हो सकता है, क्योंकि सुख स्वरूप तों एकमात्र मैं ही हूँ। विषयोंमे सुख कहाँ जो स्वाद रसगुल्लामें मिल सकता है, वह सड़े गुड़के धोवनमें कैसे आ सकता है, अतः मेरा स्मरण करना, मेरा ध्यान करना मेरेमें ही मन लगाये रहना यही भक्ति है, उसी को जिसने प्राप्त कर लिया है, उसके सामने ब्रह्मलोक तकके दिव्यसुख तुच्छ हैं। वह निर्भय है वही निस्पृह है।"

उद्धवजीने कहा—"प्रभो! यह प्रसङ्ग तो बड़ा सरस है, इसे सुनते सुनते मेरी तृप्ति नहीं होती, कृपा करके इस विषयको मुझे और स्पष्ट समझा दें। आपके भक्त कैसे होते हैं वे क्या क्या इच्छायें रखते हैं, उनकी रहनी सहनी कैसी होती है?"

यह सुनकर भगवान् हँसे और बोले—"उद्धव! भक्तोंके सम्बन्धमें मुझे कहनेमें बड़ा आनन्द आता है। भक्त मेरे

अत्यंत प्रिय हैं, भक्त ही मेरे सर्वस्व है, उनके सम्बन्धमें तुम जब तक चाहो मुझसे सुनते चलो। अच्छी बात है अब मैं भक्तोंके ही सम्बन्धमें कहता हूँ।"

सूतजी शौनकादि ऋषियोंसे कह रहे हैं—"मुनियो! आप तो अनन्य भक्त हैं भगवद्भक्ति ही आपके जीवनका चरम-लक्ष्य है। उसी विनय पर आरूढ भक्तिके सम्बन्धमें तथा उसे धारण करनेवाले भक्तिके सम्बन्धमें अब आप कुछ श्रवण करें।"

छप्पय

निष्किंचन समबुद्धि शान्त सन्तोषी त्यागी।
निस्पृह निर्मम नित्यतुष्ट ममपद अनुरागी॥
निरखें सब महँ मोइ द्वैत दीखे नहिँ जिनिकूँ।
दुखको नहिँ लवलेश दिशा सुखमय सब तिनिकूँ॥
तन मन, धन मम पदनिमहँ, सौंपि न चाहैं इन्द्रपद।
राज्य पाट ऐश्वर्य सुख, लेवैं नहिँ ते ब्रह्मपद॥

—::緣::—

भक्तोंका उत्कर्ष

(१२६२)

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥*

(श्रीभा०११स्क०१४अ०१६श्लो०)

छप्पय

उद्धव जैसे मोइ भक्ति निष्किंचन प्यारे ।
तैसे प्रिय नहिं राम रमा अज डमरू वारे ॥
निरवैरी निरपेक्ष भक्तके पीछें घूमूँ ।
पदरज तैं कृत कृत्य बनूँ चरननि कूँ चूमूँ ॥
विषय वासना काम सुख, की इच्छा मनमहँ नहीं ।
उन भक्तनि आनन्द कूँ, विषयी का पावें कहीं ॥

कुछ लोग भागवती कथाओंमें पुनरुक्ति दोष बताते हैं। उनका कथन है—"इन कथाओंमें बार बार एक ही बात दुहरायी जाती है, एक ही दृष्टान्त बार बार दिया जाता है, एक ही बातका पिष्ट पेषण किया जाता है।" हम कहते हैं संसारमें किस बातमें पुनरुक्ति नहीं। साँसको बारम्बार लेते हैं। नित्य

---

*भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी उद्धवजीसे कह रहे हैं—"उद्धव ! जो शान्ति निरपेक्ष, निर्वैर और समदर्शी मुनि हैं, उनके पीछे पीछे मैं सदा इसलिये घूमता रहता हूँ, कि उनकी चरणरज मेरे ऊपर पड़ जाय, जिससे मैं पवित्र हो जाऊँ।

ही लोग नींदमें सोते है, नित्य ही उसी प्रकार उठते हैं, नित्य ही उसी प्रकार सूर्य उदय है। नित्य ही एक अन्नको बार बार खाते हैं, नित्य ही एक पानीको बार बार पीते हैं, नित्य ही स्त्री बच्चोंको एक प्रकार प्यार करते हैं। बच्चेको जब देखते हैं, तभी गोदमें उठाकर उसका बार बार मुख क्यों चूमते हैं, एक बार हो गया। जब संसारमें सब कामोंकी पुनरावृत्ति ही होती है, तो भागवती कथाओंमें पुनरावृत्ति हो तो इसमें आश्चर्य क्या? समस्त शास्त्रोंका सार दो ही बातोंमें हैं। सच्चिदानन्द भगवान् ही सत्य हैं, उनका भजन करना ही सार है। इसी एक बातको शास्त्र अनेक युक्तियोंसे, अनेक दृष्टान्त देकर, अनेक वाद बताकर प्रतिपादन करते हैं, जब एक ही बातपर बड़े बड़े पोथे बनाते हैं, तब उनमें पुनरुक्ति न होगी तो और क्या होगी। भागवती कथाओंका सार यही है, कि भगवान्को भक्त अत्यंत प्रिय हैं, उन्हे पानेके लिये भक्ति ही एक सरल सुगम साधन है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब उद्धवजीने भक्तोंके सम्बन्ध मे प्रश्न किया, तब भगवान् कहने लगे—'उद्धव! मेरे भक्त निस्पृह होते। वे मेरे अतिरिक्त किसीसे कुछ आशा नहीं रखते हैं। भक्त होकर जो मनुष्योंसे आशा रखता है, वह भक्त नहीं, व्यापारी है। भक्तिको सामग्री बनाकर उससे पैसा पैदा करना चाहता है। किसीने अन्नका, वस्त्रका, नमकका, गुणका तथा अन्यान्य संसारी वस्तुओंका व्यापार किया, किसीने भक्तिका व्यापार कर लिया, उनकी इच्छा भगवान्को पानेकी नहीं होती, ये तो पैसा पैदा करनेका कृष्णकथाको साधन बनाते हैं, धन चाहते हैं, वह उन्हें मिल ही जाता है, जो धन आदि कुछ न चाह कर मुझे ही चाहते हैं, उन्हें मैं ही प्राप्त होता हूँ।

जिन्होंने अपने मनको तथा इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है, जिनकी बुद्धि विषयोंके विलोकनमें विचलित नहीं होती,

उनके लिये फिर कोई दुःख नहीं। शोक नहीं, चिन्ता, नहीं भय नहीं, वे निर्भय होकर संसारमें विचरते हैं। उनसे कोई कहे कि तुम ब्रह्मपद ले लो, भगवत् स्मृतिको कुछ कालके लिये छोड दो।" तो वे ऐसे ब्रह्मपदको ठुकरा देंगे और उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखेंगे। वे कह देंगे—"हमे ब्रह्मा बनकर क्या लेना है, बिना बात ब्रह्माण्डभरकी चिन्ता अपने सिरपर लाद लें। हमे इतना समय कहाँ है, कि हंसपर चढे चढे यहाँ देख वहाँ देख उसके पुत्रकी चिन्ता उसके पौत्रकी चिन्ता इस गोरख धन्वेमें लगे रहे। हमें तो श्रीकृष्ण चिन्तन सुख चाहिये।" इसीलिये वे ब्रह्मा बननेकी कभी मनसे भी चिन्ता नहीं करते।

जब वे ब्रह्माके पदको ठुकरा देते हैं, तो इन्द्रपदके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या। यह तो अस्थाई क्षयिष्णुपद है। कोई उनसे कहे—"अबके तो आप सार्वभौम राजा होंगे" तो इसे वे गाली समझते हैं। समस्त भूमण्डलके आधिपत्यकी वे स्वप्नमें भी आकांक्षा नहीं करते। कोई कहे कि अच्छा स्वर्ग, ब्रह्मपद, सार्वभौमपद तथा अन्यान्य पद न चाहें यहाँ रह कर ही समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँ, अणिमा, गरिमा, महिमा, ईशत्व तथा वशित्व आदि सिद्धियोंका उपभोग यहीं रहकर आप करें, भगवान्से यही माँग लें।" तो वे इस आदान प्रदानको अपनी भक्तिमें सबसे बडी बाधा अनुभव करेंगे। ये सिद्धियाँ भगवान्से विमुख करनेवाली हैं, जीवके अभिमान को बढानेवाली हैं, इसलिये मेरे भक्त संसारकी किसी भी वस्तुको, किसी भी सिद्धिको तथा किसी भी बडेसे बडे पदको नहीं चाहते, यहाँ तक की वे मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते। जिस मोक्षमें मेरे दर्शन न हो, मेरा नित्य सानिध्य न हो, वे उस मोक्षको ठुकरा देते हैं। मेरे भक्त मुझे चाहते हैं, मेरे

गुणोंका श्रवण, मेरे नामका गायन और मेरे स्वरूपका ध्यान यही उनका आहार है। इसीके लिये वे सदा व्याकुल बने रहते हैं। इसीलिये भक्तजन मुझे अत्यत ही प्यारे हैं।"

उद्धवजीने पूछा—"प्रभो! भक्त आपको कितने प्यारे हैं, कैसे प्यारे हैं? जैसे कमलनाभ ब्रह्मा।"

भगवान्ने कहा—"उद्धव! पुत्र तो संसारमें सबसे प्यारा होता ही है। पुत्र अपनी आत्मा ही है। संसारमें लोग अयोग्य पुत्रसे भी प्यार करते हैं फिर सर्वगुण सम्पन्न आज्ञाकारी पुत्र हो, तब तो कहना ही क्या। ब्रह्माजी मेरे योग्य पुत्र हैं, आज्ञाकारी हैं, फिर भी वे मुझे उतने प्यारे नहीं हैं जितने कि भक्त प्यारे हैं।"

उद्धवजीने कहा—"तो क्या जितने प्रिय आपको शङ्करजी हैं उतने प्रिय भक्त हैं?"

भगवान्ने कहा—"उद्धव! पुत्रसे भी प्यारा पौत्र होता है, फिर पौत्र अपनी पदवी पर पहुँच जाय, सर्वसमर्थ हो जाय तब तो कहना ही क्या, शंकरजी परम ऐश्वर्यशाली हैं, सर्वसमर्थ हैं परमेश्वर हैं फिर भी वे मुझे उतने प्रिय नहीं हैं, जितने कि भक्तजन प्रिय हैं।"

उद्धवजीने कहा—"तो क्या आप भक्तोंका अपने बडे भाई संकर्षणके सदृश आदर करते हैं?"

भगवान्ने कहा—"संकर्षण तो मेरे बडे भाई ही ठहरे। उनका मैं अत्यधिक आदर करता हूँ, हृदयसे प्रेम करता हूँ, किन्तु वे मुझे उतने प्रिय नहीं हैं, जितने प्रिय मुझे मेरे अनन्य भक्त हैं।"

उद्धवजीने कहा—महाराज! किसीकी भी तो समता होनी चाहिये। संसारमें सबसे प्यारी अपने अनुकूल आचरण करनेवाली अत्यंत अनुराग रखनेवाली अपनी अर्धाङ्गिनी है। इसी-

लिये उसे जीवन सहचरी प्राणप्रिया तथा प्रियतमा कहते हैं। लक्ष्मीजी आपको अत्यत प्यार करती हैं, पलभर भी आपके पादपद्मोंसे पृथक् नहीं रहतीं। अपने सुकोमल गुदगुदी ऊरुओं पर आपके चरणकमलोंको रखकर अपनी कमलसे भी कोमल पतली पतली उँगलियोंसे उन्हे शनै· शनै· सुहलाती रहती हैं, क्या भक्तजन आपको उनके सदृश प्रिय हैं ?"

यह सुनकर भगवान् हँस पडे और बोले—"उद्धव ! तुम कहते तो सत्य हो, कामिनीको कामधुरा तथा गृहमेधधेनु कहा है। वह घरकी कल्प लता हैं, सभी सुखोंको वह देनेवाली हैं, अनुरागका वह निरन्तर स्रोत बहाती रहती हैं, इसीलिये लक्ष्मी मुझे बहुत प्यारी हैं, किन्तु उतनी प्यारी नहीं हैं जितने प्यारे भक्त हैं।"

उद्धवजीने कहा—"हाँ, महाराज ! अब में समझ गया, भक्त आपको प्राणोंके सदृश प्यारे हैं। ससारमे जितनी भी प्रियता हैं वे अपने आपके ही लिये हैं। प्राणोंसे अधिक प्रिय कोई वस्तु है ही नहीं।"

भगवान्ने कहा—"उद्धव ! तुम्हारा कथन सोलहों आने सत्य है। प्राण सबसे प्रिय है, किन्तु मुझे तो मेरे भक्त प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं, मैं उन्हें दुखी देख ही नहीं सकता। भक्त मेरे प्राणोंके भी प्राण हैं, भक्त ही मेरे परमधन हैं, भक्त ही मेरे इष्ट हैं अधिक क्या कहूँ, भक्त ही मेरे सर्वस्व हैं। भक्तोंके पीछे पीछे मैं इसी प्रकार फिरता रहता हूँ, जिस प्रकार गौके पीछे बछडा फिरता रहता है।

उद्धवजीने कहा—"महाराज ! बछडा तो दूध पीनेके लिये फिरता है। बछडेसे अधिक प्रेम तो गौका ही होता है।

भगवान्ने कहा—"मैं उनके पीछे ऐसे फिरता रहता हूँ, जैसे स्वामीके पीछे सेवक।

उद्धवजीने कहा—"महाराज ! सेवक तो वेतनपर लोभसे स्वामीके पीछे पीछे फिरता है।

भगवान्‌ने कहा—"मुझे भी लोभ है, मैं भी उनके पीछे किसी स्वार्थसे ही फिरता हूँ। मैं कभी उनके आगे नहीं चलता पीछे ही रहता हूँ।"

इसपर शौनकजीने पूछा—"सूतजी ! भगवान् भक्तके पीछे ही पीछे क्यों फिरते हैं ?

सूतजीने कहा—"महाराज ! भगवान्‌को भक्तकी बड़ी चिंता रहती हैं। उतनी चिन्ता माताको अपने पुत्रकी भी नहीं रहती। यद्यपि माता अपने पुत्रकी चिन्ता बहुत रखती है। हाथसे कुछ भी काम करती रहती हो, चित्त उसका सर्वथा पुत्रमें ही लगा रहेगा। तनिक भी पुत्र आँखोंसे ओझल हुआ, कि उसे अनिष्टकी शंका होने लगती है। इसीलिये भगवान् कभी भक्तको छोड़ते नहीं। पीछे इसलिये रहते हैं, कि आगे वस्तुको तो भक्त आँखोंसे भी देख लेगा, पीठमें तो आँखें हैं नहीं है, कोई पीछेसे प्रहार कर दे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है, कि भक्त भगवान्‌को अत्यंत ही प्यारा है, आगेरहें और आँखों से आँखें मिल जायँ, तब भगवान्‌को समाधि हो जाय, वे चल ही न सकें। अतः उसके पीठकी ओटमें छिप छिपकर चलते हैं। तीसरा कारण यह भी है भगवान् अपनेको भक्तसे छोटा समझते हैं, अतः बड़ोंके पीछे पीछे ही चलना चाहिये उन्हें पीठ दिखाकर न बैठना चाहिये न चलना चाहिये। चौथा कारण यह भी है, कि भक्त बड़े संकोची होते हैं यद्यपि भगवान् उन्हें अपना इष्ट मानते हैं फिर भी भक्त तो उन्हें अपना आराध्य और सर्वस्व समझते हैं, भगवान् आगे आगे चलेंगे तो भक्त उनके चलचरण चिन्होंके ऊपर तो पैर रख नहीं सकते। चरणोंके चिन्ह बचाकर दायें बायें चलेंगे। इस-

लिये भगवान् उनका संकोच दूर करनेको पीछे पीछे चलते हैं। यह अनुभव भगवान्‌को वनमें हुआ।"

शौनकजीने पूछा—"सूतजी! वनमें भगवान्‌को अनुभव कैसे हुआ?"

सूतजी बोले—"महाराज! जब चित्रकूटसे भगवान् दण्ड-कारण्यमें चले तो वे आगे आगे थे, उनके पीछे जगज्जननी जानकी और उनके पीछे यतिवर लक्ष्मणजी थे। जानकीजी बहुत सम्हलकर चल रहीं थीं। उन्हें पग पगपर इस बातका ध्यान रखना पड़ता था कि भगवान्‌के चरणचिन्होंपर मेरा पैर न पड़ जाय, अतः चरणचिन्होंको बचाकर वे दायीं वायीं चल रहीं थी। लक्ष्मणजीको जानकीजीसे अधिक सचेष्ट रहना पड़ता था। वे भगवान्‌के चरणचिन्हों को भी बचाते थे और जानकीजीके भी, क्योंकि उनके तो दोनों ही इष्ट थे। कुछ दूर चलनेपर भगवान्‌को ध्यान आया। उनका नवनीतसे भी सुकोमल हृदय बहने लगा। सोचने लगे—"जब इनका समस्त ध्यान चरणचिन्होंको ही बचानेमें ही लगा हुआ है, तो ये वनकी शोभा क्या देख सकेंगे। सुखका अनुभव कैसे कर सकेंगे, आनन्दका आस्वादन कैसे करेंगे। जहाँ, लज्जा, संकोच और भय है वहाँ रसका भलीभाँति आस्वादन नहीं होता।" यही सोचकर भगवान् एक सघनवृक्षके नीचे बैठ गये। समीप ही स्वच्छ सुन्दर सलिलवाला सरोवर था। लक्ष्मणजी कमलके पत्तोंसे जल ले आये। जानकीजीनेश्रनने जलसे हाथ पैर धोये जलपान किया, कुछ देर विश्राम करके बोले—"लक्ष्मण! अब चलनेका क्रम बदलना है।"

लक्ष्मणजीने पूछा—"किस प्रकार बदलना है, महाराज!

भगवान् बोले—"देखो, तुम तो धनुषबाण लेकर आगे आगे चलो। तुम्हारे पीछे सीताजी चलें। तुम दोनोंकी रक्षा

करता हुआ सबसे पीछे मैं चलूँगा। यह सघन वन है इसमें राक्षसोंका भय पग पग पर है।"

लक्ष्मणजीने कहा—"जैसी आज्ञा" ऐसा कहकर आगे आगे लक्ष्मणजी चलने लगे उनसे पीछे जानकीजी, और सबसे पीछे श्रीराघवेन्द्र। अब सीताजी निश्चिन्त थीं लक्ष्मणजी की चरणधूलि मस्तकपर भले पड़ जाय किन्तु चरणचिन्होंपर पैर रखनेका कोई संकोच अब न रहा। इसी प्रकार भगवान् भी दोनोंकी चरणधूलिको अपनी लटाओंमें कृपणके धनके सदृश एकत्रित करते हुए दोनों अपने अनन्य भक्तोंके पीछे पीछे उन्हें वनकी शोभा दिखाते सब प्रकारसे सुख पहुँचाते तथा उनकी रेख देख करते हुए आनन्दसे मार्गको पार करने लगे। तभीसे भगवान्ने यह शिक्षा ग्रहण की "कि मैं भक्तोंके पीछे या नीचे रहूँगा। जब कृष्णावतार लेने लगे तब संकर्षणजीसे बोले—"आप आगे चलिये" आगे जन्म लेकर बड़े बनिये, मैं पीछे आऊँगा, सबसे पीछे। इसीलिये भगवान् आठवें हुए सबसे पीछे पधारे। पांडवोंके भी पीछे पीछे ही चलते थे। अर्जुनके रथमें भी अर्जुनसे नीचे-ही उनके चरणको सिरपर रखकर ही—बैठते थे। इसलिये महाराज! भगवान् भक्तोंके पीछे पीछे रहते हैं।

उद्धवजी श्रीकृष्णचन्द्रसे इसी सम्बन्धमें पूछ रहे हैं—"भगवन्! भक्तोंके पीछे पीछे फिरनेका और भी कोई कारण है।'

अत्यंत ही विह्वल होकर गद्गद् वाणीसे भगवान् बोले—"उद्धव! मुख्य कारण तो यह है, कि मैं अपने शान्त, समदर्शी, सरल, शुचि सत्यवादी निरपेक्ष भक्तोंके पीछे पीछे इस दृष्टिसे फिरता हूँ कि चरणधूलिसे मेरा अपावन शरीर पावन हो जाय। मुझे सभी पतितपावन और अधमोद्धारक कहते

हैं। सब तो मेरी चरणधूलिसे पवित्र होते है और मैं अपने भक्तोंकी चरणरजसे पावन बनता हूँ, इसी लोभसे मैं भक्तोंके पीछे फिरता हू।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! आपके भक्त तो प्रायः दरिद्री मैले कुचेले और दुखी होते हैं, इसके विपरीत जो अभक्त है, वे बडे ऐश्वर्यशाली और सुखी देखे जाते हैं यह क्या बात है ?"

भगवान्ने कहा—"उद्धव! मेरे भक्त निर्धन और मैले वस्त्रोंवाले भले ही हों, किन्तु दुखी नहीं होते उनका चित्त एक-मात्र मुझमें ही लगा रहता है। वे अपना तो कुछ समझते ही नहीं। जो कुछ उनके पास है, उसका उपभोग वे प्रभुकी सेवामें ही करते हैं। धनका न होना दारिद्र नहीं हैं, जो मन का दरिद्री है, वास्तवमें वही दरिद्री है। उद्धव! तुम सोचो—"जिसके पास विपुलधन है और मनका वह दरिद्री है कृपण है लोभी है, तो उसका वह धन किस काम का। न वह किसीको दे सकता है न स्वय ही उसका उपयोग कर सकता है। इसके विपरीत जिसके पास केवल एकबार खानेके लिये सत्तू है और कोई भूखा अतिथि आकर उससे उन सत्तुओंकी याचना करता है और वह उन्हें दे देता है तो वास्तविक उदार और धनवान् तो वही है।

अर्जुन-देवराज इन्द्रके पुत्र थे। जब महाभारत युद्ध होने-वाला था, तब इन्द्रको बडी चिन्ता हुई कि मेरे पुत्र अर्जुन को कर्ण अवश्य मार देगा, क्योंकि वह सूर्यका पुत्र है, कुडलकवच पहिने ही जन्मा है, जब तक इसके शरीर पर स्वाभाविक कवच रहेगा, कानोंमे स्वाभाविक कुडल रहेंगे, तब तक कोई भी इसे परास्त नहीं कर सकता और यह सबको परास्तकर सकता है किसी प्रकार इससे कवचकुडल मिले।

यही सोचकर इन्द्र ब्राह्मण वेष बनाकर कर्णके समीप जाने लगा। सूर्यदेवको यह बात विदित हो गयी। उनके मनमें भी आया, इन्द्रके बुरे विचारोंको मैं कर्णसे जाकर कह दूँ। पुत्र-स्नेहके कारण सूर्यने कर्णके समीप आकर कह दिया—बेटा! इन्द्र ब्राह्मणका वेष बनाकर तुमसे कवचकुंडल माँगने आवेगा, तुम उसे देना मत।"

कर्णने नम्रतापूर्वक किन्तु दृढताके स्वरमें कहा—"पिताजी! आप मुझे यह क्या उलटी पट्टी पढा रहे हैं। जो वस्तु मेरे पास है उसकी मेरे समीप आकर ब्राह्मण याचना करे और मैं मनाकर दूँ यह असंभव बात है, ऐसा कभी नहीं होगा। इन्द्र तो ब्राह्मण बनकर आवेंगे, वे प्रत्यक्ष भी आते तो भी मैं मना नहीं करता।" यह सुनकर सूर्य अपना सा मुँह लेकर चले गये।

इन्द्र ब्राह्मणका वेष बनाकर आये। कर्णने उन्हें जान लिया और अपने शरीरसे उनके माँगनेपर काटकर कवच-और कुण्डल दे दिये। इन्द्र लेकर चले तो उनके घोडे उन्हें स्वर्गमें ले जानेको समर्थ न हुए। अब सोचो—"इनमें दरिद्री कौन हुआ? वास्तवमें दरिद्री इन्द्र ही हुआ। इसी प्रकार जब मैं उसकी उदारताकी परीक्षा लेने वर्षातमें साधुवेषसे गया और कहीं भी सूखा ईंधन न मिलनेसे उसने तुरन्त अपने घरकी छतमें लगे हुए चंदनकी लकडीको निकलवाकर मुझे ईंधन दिया। मेरे भक्त अपनी कोई वस्तु समझते ही नहीं। वे निष्किंचन बने रहते हैं, किन्तु उनका चित्त सदा मुझमें अनुरक्त बना रहता है, देखो व्रजकी गोपिकाओंका चित्त निरन्तर मुझमें कैसा अनुरक्त बना रहता था। उद्धव! तुम तो व्रजमें जाकर सब देख ही आये हो। वे हाथोंसे तो घर गृहस्थीके समस्त कामोंको करतीं किन्तु चित्तसे सदा मेरा

ही चिन्तन करती रहतीं। दूध दही बेचने जातीं मनमे तो उनके मैं बसा हुआ था। वे दूध दहीका नाम भूल जातीं और चिल्लाने लगतीं "श्यामको लो, कृष्णको लो" दूसरी कहती—"अरी, तुम दूध दही बेच रही हो या श्याम-कृष्णका सौदा कर रही हो, तब वे लजा जातीं। इसी प्रकार भोजन बनानेमे, दूध दुहनेमें, बच्चोंको खिलानेमें उनका मन मुझमे ही अनुरक्त रहता। मेरे भक्त शान्त और सरल होते है, उन्हे कोई कितना ही क्लेश दे वे उसे अपना प्रारब्ध समझकर भोगते हैं, किसीको दोष नहीं लगाते। वे सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमे निरन्तर निरत रहते हैं। उनके मनमे कोई संसारी कामना नहीं उत्पन्न होती। वे मेरे में ही मन लगाकर विषयोसे विरक्त बने रहते हैं। उन्हें मेरे अतिरिक्त किसीकी अपेक्षा ही नहीं। ऐसे मेरे भक्तोंके पास चाहे एक पैसा भी न हो, किन्तु उन्हें जो आत्मशान्ति होती है, वह धनिकोंको कहॉ? धनिक सदा दुखी चिन्तित और अशान्त बने रहते हैं। विशाल तृष्णामे विशाल दुख है। मैं धन सम्पत्ति वैभवसे ही प्रसन्न होता, तो मुझे दुर्योधनका पक्ष लेना चाहिये था। दुर्योधन हमारा सम्बन्धी था। वह सम्राट् था। उसके पास सुखकी सभी सामग्रियॉ थीं, मेरे स्वागत सत्कार का भी उसने बडा भारी प्रबन्ध किया था, किन्तु उसके यहॉ न जाकर मैं अपने निष्किचनभक्त विदुरके यहाँ ही गया था। राज्य-पाट धन वैभवसे विहीन पांडवोंके ही पीछे

पीछे फिरता रहता था। जो सुख–जो आत्मसंतोष–पाडवोंको था, वह कौरवोंको इतना ऐश्वर्य होने पर भी नहीं था। उन्हें अपने धन, ऐश्वर्य, बल, पराक्रम, वेतनभोगी भीष्मद्रोण आदि का भरोसा था, पाडवोंको एकमात्र मेरा भरोसा था। पाडव दु खों से घबराते नहीं थे, युद्ध तो उन्होंने धर्मके लिये कर्तव्यके लिये– मेरी आज्ञासे–किया था। कुन्तीजीने मुझसे विपत्तिका वरदान माँगा था। मेरे परमानन्दका अनुभव तो निरपेक्षता से ही प्राप्त हो सकता है। ऐसे अकिंचन शान्त, दान्त निर-पेक्ष भक्त मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। उनके लिये मैं सब कुछ करनेको सर्वथा प्रस्तुत रहता हूँ।

उद्धवजीने पूछा—"भगवन्! यह तो आपने अपने उत्तम भक्तोंकी महिमा बताई, किन्तु मैं तो ऐसा उत्तम भक्त नहीं हूँ। मैं तो अधमाति अधम हूँ। मेरा मन तो काम, क्रोध, लोभ मोहादिमें भी फँसा रहता है, विषयभोगोंकी सामग्रियोंको देखकर चचल हो जाता है। कृपा करके यह बताइये जो आपकी भक्ति करना चाहता है, किन्तु वह इन्द्रियोंको नहीं जीत सका है, अजितेन्द्रिय है, उसकी क्या गति होगी? उसके भी उद्धारकी कुछ आशा है?

यह सुनकर भगवान् बोले—"उद्धव! तुम तो परम भाग-वत हो, तुम तो मेरे सर्वश्रेष्ठ भक्त हो, यह प्रश्न तुमने सर्वसाधारण अजितेन्द्रिय भक्तोंके निमित्त किया है, अच्छी

तुम्हें देता हूँ, तुम इस प्रसङ्ग

को समाहित चित्तसे श्रवण करो"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस प्रकार भगवान्‌ने भक्तोंकी उत्कृष्टता बताते हुए भक्तिकी महती महिमा गायी है, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

भूलै मेरो भक्त विषय भोगनि फँसि जावै।
मम पद तजिकें नारि वदन महँ चित्त लगावै॥
कछु दिन होवै पतित यादि सुमिरन सुखआवै।
भूलि भटकि पछिताइ मोइ फिरतैं अपनावै॥
बढ़ी अग्नि महँ नीरहू, भस्म होहि जरि जाइ पुनि।
भक्ति होहि फिरतैं सजग, मधुमय मेरी कथा सुनि॥

—❀❀—

॥ श्रीहरि॰ ॥

[व्रजभापामें भक्तिभाव पूर्ण, नित्य पाठके योग्य अनुपम महाकाव्य]

श्रीभागवत चरित

(द्वितीय संस्करण)

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी)

श्रीमद्भागवत, गीता और रामायण ये सनातन वैदिक धर्मावलम्बी हिंदुओंके नित्यपाठके अनुपम ग्रन्थ हैं । हिन्दी भापामें रामायण तो गोस्वामी तुलसीदासजी कृत नित्य पाठके लिये थी, किन्तु भागवत नहीं थी, जिसका संस्कृत न जानने वाले भागवत प्रेमी नित्य पाठ कर सकें। इस कमीको "भागवत चरित" ने पूरा कर दिया । यह अनुपम ग्रन्थ व्रजभापाकी छप्पय छन्दोंमें लिखा गया है। बीच बीचमें दोहा, सोरठा, छन्द, लावनी तथा सरस भजन भी हैं। सप्ताह क्रमसे सात भागोंमें विभक्त है, पाक्षिक तथा मासिक पाठके भी स्थलों का संकेत है। श्रीमद्भागवतकी समस्त कथाओंको सरल, सरस तथा प्रांजल छन्दोंमें गाया गया है। आज से लगभग डेढ वर्ष पूर्व इस ग्रन्थकी तीन सहस्र प्रतियाँ छपी थीं, जो थोड़े ही दिनोंमें हाथों हाथ निकल गयीं। सैकडों नर नारी इसका नित्य नियमसे पाठ करते हैं, बहुतसे कथावाचक पंडित हारमोनियम तबले पर गाकर इसकी कथा करते हैं और बहुतसे पंडित इसीके आधारसे भागवत सप्ताह बाँचते हैं । अब इसका दूसरा ५ हजारका संस्करण अभी छपाया है। लगभग सवा नौ सौ पृष्टकी पुस्तक सुन्दर चिकने २८ पौंड सफेद कागद पर छपी है। सैकडों सादे एकरंगे चित्र तथा ५ - ६ बहुरंगे चित्र हैं । कपडेकी टिकाऊ बढ़िया जिल्द और उसपर रंगीन कवरपृष्ठ है। बाजारमें ऐसी पुस्तक १०) में भी न मिलेगी। आज ही एक पुस्तक मँगाकर अपने लोक परलोक को सुधारलें। न्योछावर केवल ५।) सवा-पाँच रुपये, डाकव्यय पृथक् ।

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर, (झूसी) प्रयाग

मुद्रक—भागवत प्रेस, झूसी, प्रयाग ।

॥ श्री हरिः ॥

श्रीब्रह्मचारीजी महाराजकी कुछ अन्य पुस्तकें

जो हमारे यहाँसे मिलती हैं।

१—भागवती कथा—(१०८ खण्डोंमें ; ५४ खण्ड छप चुके हैं) प्रति खण्डका मूल्य १।) , आठ आना डाकव्यय पृथक्। १५) में एक वर्ष के १२ खण्ड डाकव्यय रजिस्ट्री सहित।

२—श्री भागवत चरित—लगभग ६०० पृष्ठकी, सजिल्द मूल्य ५।) इसका प्रथम संस्करण अब समाप्त हो गया और द्वितीय छप गया।

३—बद्रीनाथदर्शन—बदरीनाथजीपर खोजपूर्ण महाग्रन्थ; मूल्य ५)

४—महात्मा कर्ण—शिक्षाप्रद रोचक जीवन, पृ० ३४५ मू० २॥)

५—मतवाली मीरा—भक्तिका सजीव साकार स्वरूप, मूल्य २)

६—नाम संकीर्तन महिमा—भगवन्नाम संकीर्तन के सम्बन्धमें उठने वाली तर्कोंका युक्ति पूर्ण विवेचन। मूल्य ॥)

७—श्री शुक—श्रीशुकदेवजीके जीवनकी झाँकी (नाटक) मूल्य ॥)

८—भागवती कथाकी वानगी—(आरंभके तथा अन्य खण्डोंके कुछ पृष्ठोंकी वानगी) पृष्ठ संख्या १२५ ; मूल्य।)

९—शोक शान्ति—शोकशान्ति करने वाला रोचक पत्र (पृ० ६४) इसे पढ़कर अपने शोक संतप्त परिवारको धैर्य बँधाइये। मूल्य।-)

१०—मेरे महामना मालवीयजी और उनका अन्तिम संदेश—मालवीयजीके जीवनके सुखद संस्मरण। पृष्ठ १३० ; मूल्य।)

११—भारतीय संस्कृति और शुद्धि—क्या अहिन्दू हिन्दू बन सकते हैं ? इसका शास्त्रीय विवेचन। पृष्ठ सं० ७५ मूल्य।-) पाँच आना

१२—प्रयाग माहात्म्य— आपके हाथमें ही—मूल्य -) एक आना।

१३—वृन्दावन माहात्म्य—मूल्य -)

१४—राघवेन्दुचरित—(भगवच्चरितसे ही पृथक् छापा गया है) मूल्य।-)

१५—प्रभुपूजा पद्धति—भगवान्‌की पूजा करनेकी सरल सुगम पद्धति। मूल्य -)॥

पता—संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर (झूसी) प्रयाग।